खण्ड 3

औपनिषदिक दर्शनः मूल विषय– II

खण्ड परिचय

'उपनिषद्' शब्द का अभिधार्थ है "समीप बैठना" और निहितार्थ है आध्यात्मिक गुरु से अध्ययन करना। प्रस्तुत *उपनिषद्* मुख्य उपनिषदों से लिए गये हैं, ये उपनिषद् अद्वितीय पुस्तक के रूप में नहीं देखे जाते हैं, अपितु ये उस वेद से सम्बद्ध होते हैं जिसमें ये आते हैं। औपनिषदिक शिक्षा को बहुधा किसी विशिष्ट मन्त्र या कर्मकाण्ड के प्रसंग में प्रस्तुत किया जाता है। वेदान्त परम्परा में, उपनिषदों को 'श्रुति प्रस्थान' कहा जाता है, जिससे ब्रह्म–विषयक ज्ञान की उपलब्धि होती है।

इकाई 10 ईश उपनिषद्, *ईशावास्य उपनिषद्* की शिक्षाओं की चर्चा करती है, जोकि भारतीय वैदिक शास्त्रों के प्रारम्भिक समूह से सम्बन्धित है। इस उपनिषद् में जो मुख्य समस्या की चर्चा की गई है, यह है मानवीय जीवन और क्रिया को वेदान्त के अद्वैत पक्ष से संगति बिठाना। यह न तो अति भ्रमवाद का और न ही प्रयोजनवाद के विरोधी मत का समर्थन करता है, बल्कि असम्मत अतिवादों के मध्य संगति बनाने का प्रयास करता है।

इकाई 11 *कठ उपनिषद्* से सम्बन्धित है। *कठोपनिषद्* मानवीय जीवन के अन्तिम लक्ष्य (साध्य) से जुड़े हुए प्रश्नों को सम्बोधित करता है। "क्या होता है जब कोई मर जाता है? क्या मृत्यु के पश्चात् कुछ है जो रहता है? जीवितों में क्या शेष है? धर्म और अधर्म, ज्ञान और अज्ञान, जीवन और मृत्यु का क्या अर्थ है?" इन प्रश्नों के उत्तर व्यक्ति को उस तत्त्व को समझने में सहायक हैं जो परम, सर्व–आच्छादक (सर्वव्याप्त) और सर्वोच्च (अन्तिम सत्ता) है। इन प्रश्नों के उत्तर यम और किशोरवय नचिकेता के मध्य सम्वाद के माध्यम से अत्यन्त सरल ढंग से दिए गये हैं।

इकाई 12 छान्दोग्य उपनिषद्, *छान्दोग्य उपनिषद्* की शिक्षाओं की दार्शनिक प्रासंगिकता की व्याख्या करती है। चूंकि यह प्राचीनतम उपनिषदों में से एक है, इसलिए इसमें उपासना–पूजा से सम्बन्धित काफी चर्चा प्राप्त होती है। यह उपनिषद् आत्मा/आत्म से तादात्म्यता को स्थापित करने के लिए उपमाओं का उपयोग करता है। इस इकाई के माध्यम से आप यह भी समझेंगे कि कैसे उपनिषद् आत्मा और ब्रह्म की तादात्म्यता को स्थापित करता है। यह इकाई ब्रह्माण्ड विद्या और जीवन के विकास की शिक्षाओं का भी वर्णन करता है।

इकाई 13 *बृहदारण्यक उपनिषद्* की शिक्षाओं को रेखांकित करती है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* को सामान्यतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपनिषद् माना जाता है। यह *शतपथ ब्राह्मण* (सौ भागों वाला ब्राह्मण) का एक भाग बनाता है। यह आत्म के रूप में अभिज्ञात सर्व–आच्छादक, परम, स्व–प्रकाशित और आनन्दमय सत् ब्रह्म की व्याख्या करता है। आदि शंकर के अनुसार, यह *उपनिषद्* महानतम है, क्योंकि यह सीखने की तीनों पद्धतियों, उपदेश, उपपत्ति और उपासना को रखता है। उपदेश इसलिए क्योंकि यह ब्रह्म–आत्म की रहस्यात्मक अनुभूति की सत्य प्रकृति की शिक्षा देता है। उपपत्ति इसलिए क्योंकि यह तार्किक व्याख्या देता है और उपासना इसलिए क्योंकि यह *उपनिषद्* इस बात की व्याख्या करता है कि ध्यान और स्व–अनुभूति के माध्यम से परम सत्ता को कैसे समझ सकते हैं। यह *उपनिषद्* अपने दार्शनिक कथनों के लिए भी प्रसिद्ध है।

इकाई 10 ईश उपनिषद्[10]

रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 परिचय

10.2 अवलोकन

10.3 मूल मुद्दों/अवधारणाओं पर विचार

10.4 दार्शनिक प्रतिउत्तर

10.5 सारांश

10.6 कुंजी शब्द

10.7 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप उपनिषदों की निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण विषयवस्तु से परिचित होंगे–

- 'उपनिषद्' का अर्थ, (ईशावास्य का भी) तथा भारतीय दर्शन में इसका स्थान
- ईशावास्योपनिषद् का उपागम और महत्ता
- सृष्टि और सृष्ट का विचार
- विवेक–शक्ति
- विद्या और अविद्या
- वैराग्य, कर्म और उपासना का अर्थ
- वैराग्य, कर्म और उपासना का सहकार
- आत्म–ज्ञान का महत्त्व
- ओंकार (ॐ) के चिह्न द्वारा वर्णित पूर्णता का विचार, सत्य/परम सत्ता का प्राप्त करने के साधन के रुप में पूर्ण

10.1 परिचय

भारतीय दार्शनिक परम्परा वैदिक और अ–वैदिक दो समानान्तर धाराओं में विभक्त है, जिसे आस्तिक एवं नास्तिक तन्त्र भी कहते हैं। वेद जोकि ज्ञान का नित्य एवं दैवी स्रोत माना जाता है, चार भागों में बांटा जा सकता है–मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्।

[10] श्री अजय आमसयाल, विद्या वाचस्पति गांधक दर्शन केन्द्र जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय, दिल्ली, अनुवाद– डॉ. अफजल अहमद

सामान्य रुप से शुरुआत प्रकृतिकेन्द्रित मन्त्रों वाली प्रार्थनाओं से हुई और इसकी परिणिति उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन में हुई। 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ ऐसे गुरु के पास बैठना है, जो शिष्य के अज्ञान को नष्ट करने में समर्थ होता है। मान्य उपनिषदों की संख्या 108 है, जिसमें 10 सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इन पर शंकराचार्य (780 ई.) ने भाष्य लिखा है। *ईशावास्योपनिषद्* 18 मन्त्रों वाला दूसरा सबसे छोटा उपनिषद् है, यह *शुक्ल यजुर्वेद संहिता* का हिस्सा है। यह *ईश उपनिषद्* भी कहलाता है। 'ईशावास्य' का शाब्दिक अर्थ है, अन्तर्नियन्ता द्वारा व्याप्त होना। इसमें जगत् के अन्तर्नियन्ता के सर्वव्यापी होने के विचार को सारबद्ध करने का प्रयास किया गया है।

उपनिषद् सर्वांगीण विकास के लिए स्वार्थरहित होकर कर्म करने की प्रेरणा देता है। उपनिषद् इतने गहन अन्तर्दृष्टि वाले हैं कि विद्वानों की इसके संबंध में एक प्रसिद्ध उक्ति है कि यदि समस्त वैदिक साहित्य नष्ट हो जाय तो *ईशावास्य* की सहायता से उसके समस्त ज्ञान को पुनः प्राप्त किया जा सकता है। कुछ विद्वानों ने इस उपनिषद् के 18 मन्त्रों की समता *गीता* के 18 अध्यायों से की है। इस अध्याय में हम इन 18 मन्त्रों में निहित मूलभूत विचारों की चर्चा करेंगे। *ईशावास्य* में सभी उपनिषदों का सार निहित है।

10.2 अवलोकन

ईशावास्य समस्त उपनिषदों का सार रखता है। किन्तु, अन्य प्रमुख उपनिषदों से भिन्न, यह बिना किसी दार्शनिक पृष्ठभूमिपरक कहानी और अवस्थापना के प्रारम्भ होता है। किन्तु, उपनिषदों की सामान्य संरचना पर गहरे दृष्टिपात से ज्ञात होता है कि औपनिषदिक विषय–वस्तु का उद्देश्य अस्तित्व के मूलभूत प्रश्नों का उत्तर देना है। समानरूप से, *ईशावास्य उपनिषद्* का उद्देश्य भी परम सत् की समस्या को उठाना और आत्म एवं ब्रह्म की ऐक्यता के पदों में इस समस्या का उत्तर प्रस्तुत करना है। अपने प्रथम मन्त्र में, *ईशावास्य* समग्रता के तरीके से ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में सत्य और ब्रह्माण्ड में मनुष्य के स्थान की उद्घोषणा करता है। सम्पूर्ण को पूर्ण के रूप में वर्णित किया गया है। इसका प्रतीक ॐ है। यह आगे कल्पना करता है कि अंश पूर्ण से उसी तरह अभिन्न है जैसे जल–बूंद समुद्र से। 'दर्शन' पद को बहुधा दृष्टि/नजरिया– सम्पूर्ण विश्व के बारे में समग्रतापूर्ण एवं एकरूपीय दृष्टि– की तरह निर्वचित किया जाता है। 'पूर्ण' समग्रतापूर्ण ज्ञान के विचार की ओर संकेत करता है।

ईशावास्य उपनिषद् ईश्वर और ब्रह्माण्ड (स्रष्टा और सृष्टि) के वर्णन करने में भी अद्वितीय और विशिष्ट है। अनेक दार्शनिक परम्पराएं स्रष्टा और सृष्टि को उसी तरह भिन्न मानती हैं जैसे घड़ीसाज (घड़ी बनाने वाले) और घड़ी को। किन्तु, औपनिषदिक विचार है कि स्रष्टा सृष्टि से भिन्न नहीं है। स्रष्टा अगोचर और विश्व में अंतर्भूत है।

यह बताना भी महत्वपूर्ण है कि यह *उपनिषद्* स्रष्टा और सृष्टि सम्बन्धी इस मूलभूत अर्न्तदृष्टि को रखते हुए, कर्म और त्याग के पथ को कैसे वर्णित करता है। उदाहरणार्थ, *तैत्तिरीय उपनिषद्* पंचकोष का सिद्धान्त बताता है; *कठ उपनिषद्* शरीर त्रय का सिद्धान्त बताता है, आदि। लेकिन यह *उपनिषद्* सत्य के बारे में सीधी घोषणा करता है। यह ईश्वर को विश्व का अंतर्भूत और अगोचर कारण के रूप में सीधे ही प्रस्तुत करता है और सत्तामीमांसा की अपनी अवधारणा के आधार पर कर्म एवं उपासना के साथ वैराग्य का समन्वय प्रस्तुत करता है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ख) इकाई के अन्त में दिए उत्तरों से अपने उत्तर की जाँच करें।

1. 'उपनिषद्' पद का क्या अर्थ है?

.....

.....

.....

.....

.....

2. सत्ता की प्रकृति को समझने की दृष्टि से 'ईशावास्य' का संक्षेप में अर्थ बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

10.3 मूल मुद्दों/अवधारणाओं पर विचार

प्रारम्भ से ही *ईश उपनिषद्* विश्व के सम्बन्ध में एक सीधी समझ प्रदान करता है और इस समझ से विकसित होने वाला एक नीतिशास्त्र भी प्रस्तुत करता है। इस *उपनिषद्* के मुख्य विचारों इन शीर्षकों के अन्तर्गत् समझा सकता है–

अ – ईश्वर और जगत्

जैसाकि हमने ऊपर संकेत किया है ईशावास्य का प्रथम मन्त्र स्रष्टा और सृष्टि के बीच विद्यमान सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। जो विश्व को इसकी पूर्णता में समझने की अद्वितीय पद्धति है, तथा हमें स्वार्थरहित कर्म में प्रवृत्त करता है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यांजगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ (ईशावास्योपनिशद्,1)

ईशावस्योपनिषद् में स्रष्टा और सृष्टि के बीच सम्बन्ध को ध्यान में रखकर चार प्रमुख अवधारणाएं प्रचलित हैं,

1. **देववादः** ईश्वर ने जगत् की रचना की और रचना के समय ही उसने जगत् की मूलभूत क्रिया पद्धति को व्यवस्थित किया हुआ है किन्तु अब यह जगत् के क्रियाकलापों में सम्मिलित नहीं होता।

2. **ईश्वरवादः** ईश्वर नेजगत् की रचना की, इसके क्रियाकलापों को व्यवस्थित किया और यह जगत् के संधारण और विनाश में सक्रिय रुप से सक्रिय रहता है।

3. **सर्वेश्वरवादः** ईश्वर या परम सत्ता संपूर्ण विश्व का आन्तरिक सार है।

4. **सर्वसर्वेश्वरवादः** ईश्वर संपूर्ण ब्रह्माण्ड का आन्तरिक सार और यह ईश्वर इससे परे भी है।

5. सृष्टि की औपनिषदिक अवधारणा इन चारों अवधारणाओं से परे है (यद्यपि यह सर्व–सर्वेश्वरवाद के निकट है) सृष्टि के स्थान पर अधिक तर्कसंगत रुप से, जगत् एक अद्वैत तत्त्व, ईश्वर, ब्रह्म या आत्मा की अभिव्यक्ति है, जो केवल अन्तर्भूत ही नहीं बल्कि भूतातीत एवं अनिर्वचनीय है। स्रष्टा और सृष्टि का यह संलय या एकरुप होना तत्त्व–मीमांसा के एक चिर–पुरातन प्रश्न का उत्तर देता है;

जगत् परिवर्तनशील अथवा स्थाई है?

यह सत्ता है अथवा संभावना है? यह सत् है अथवा असत्?

उत्तर यह है कि सत् और असत् दोनों है, सत्ता और संभावना दोनों है। यह जगत् (चर) और ईश (अचर नियन्ता) दोनों को अपने अन्दर समाहित किए है। वेदान्त के अनुसार, ब्रह्म 5 लक्षणों वाला है– सत्, चित्, आनन्द, नाम और रूप। इनमें प्रथम तीन ब्रह्म के वास्तविक स्वरुप का प्रतिनिधित्त्व करते हैं और अन्तिम दो ब्रह्म के परिवर्तनशील पक्ष का प्रतिनिधित्त्व करते हैं। हालांकि बाद वाले लक्षण केवल एक प्रक्षेपण या आभास हैं। जगत् न तो सत् है और न असत्। यह वास्तविक ब्रह्म की केवल आभासी प्रतीति है। जगत् की नाम–रूपात्मकता बदल जाती है किन्तु इसका आन्तरिक ईश्वर–तत्त्व वैसा ही रहता है। सच्चिदानन्द सम्पूर्ण सत्ता का अधिष्ठान है। जिस प्रकार जल की विभिन्न तरंगों के भिन्न भिन्न नाम एवं रुप हो सकते हैं किन्तु सभी तरंगों का आन्तरिक सार–तत्त्व जल एक ही रहता है।

ब – विद्या और अविद्या

विद्या और अविद्या का शाब्दिक अर्थ ज्ञान और अज्ञान है। इसके अन्य सम्बन्धित अर्थ भी हैं। इसलिए इन शब्दों के तत्त्वमीमांसीय अर्थ को समझना उचित होगा, अविद्या या अज्ञान का अर्थ आत्मानुभूति का अभाव है अथवा आत्म एवं जगत् की भ्रामक तत्त्वमीमांसीय समझ है। इस अज्ञान के दो पक्ष हैं;

1 – आवरण और 2 – विक्षेप

आवरण के अन्तर्गत् अविद्या शुद्ध आत्मा के रुप में हमारे सच्चे स्वरुप को ढक लेती है। दूसरी ओर विक्षेप के रुप में अविद्या झूठी पहचानों और तत्सम्बन्धी झूठे विश्व–दृष्टि को ही प्रक्षेपित करती है।

जीवात्मा से जुड़ी यह अविद्या अनादि है। यद्यपि यह सान्त है अर्थात् इसका अन्त संभव है। इस अज्ञान का समुचित प्रतिकार ज्ञान अथवा विद्या ही है। विद्या के सारतत्त्व को सबसे अच्छे प्रकार से वेदान्त के महावाक्यों से, जैसे, तत् त्वम् असि (यह तुम हो) आदि से पाया जा सकता है।

इस आत्म–विद्या को *उपनिषद्* में अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। इसके अतिरिक्त हमारे ज्ञान केवल उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं और केवल साधन–मूल्य वाले होते हैं। आत्म–ज्ञान स्वतःसाध्य आन्तरिक मूल्य वाला होता है । यह मनुष्य को सभी दुःखों से

छुटकारा दिलाने वाला होता है। आत्म–ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा को वेदान्त में मुमुक्षा कहते हैं । ऐसे व्यक्ति जिनमें मुमुक्षा का अभाव होता है, ऐसे व्यक्ति उपनिषदों में 'आत्महन्तः जनः' कहे जाते हैं अर्थात ऐसे व्यक्ति आध्यात्मिक अर्थ में आत्म–हनन करने वाले होते हैं। *उपनिषद्* रूपक की भाषा में कहता है कि ऐसे लोग ऐसे अन्धलोक में प्रवेश करते हैं जहां घोर दुःख पाया जाता है।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

तां स्ते प्रेत्यभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ (*ईशावास्योपनिषद्*, 3)

स – विवेक एवं वैराग्य

उपरोक्त दार्शनिक समझ या सत और असत के बीच अन्तर करना ही विवेक कहलाता है। विद्या और अविद्या के बीच अन्तर किया जाना है। वैराग्य भी इसी अवबोध का परिणाम होता है। विवेक और वैराग्य मिलकर साधन–चतुष्टय का आधार बनाते हैं। उपनिषद् थोपे हुए वैराग्य को हतोत्साहित करते हैं, यह केवल इस समझ का परिणाम है कि जिसे हम सत् समझते हैं, यह असत् होता है, और क्षणभंगुर वस्तुओं से चिपकना व्यर्थ है। यह छोड़ने योग्य वस्तुओं का त्याग और प्राप्त करने योग्य वस्तुओं की प्राप्ति है। यह उसे त्यागना है जो पहले से त्यागना है जो पहले से त्यक्त है और जिसका सम्बन्ध हमसे नहीं है तथा यह उसे पाना है जो हम पहले से हैं (हमारा सच्चिदानंद स्वरुप वास्तविक स्वभाव) इसप्रकार विवेक बुद्धि का यह तन्त्र है जो सत् और असत् में अन्तर करता है, इसलिए वैराग्य यह मनोवृत्ति है जो सत का अनुसरण करती है और असत् का त्याग करती है। पहले मन्त्र का आशय यह है कि हमारे पास जो पहले से है, हमे उससे संतुष्ट रहना चाहिए। और जो वस्तु हमारी नहीं है, उसके सम्बन्ध में हमें परेशान नहीं होना चाहिए। इसलिए मा गृधः; लालच मत करो, ऐसा निर्देश दिया गया है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु क्षणभंगुर है और वस्तुओं पर किसी का कोई स्वामित्व नहीं है। जगत् में जो कुछ भी है यह केवल आभास है।

धर्म (कर्तव्य और कर्म का मार्ग)

जब कोई विवेक और वैराग्य प्राप्त कर लेता है तब प्रश्न उठता है कि उस व्यक्ति को क्या करना चाहिए? क्या उसे संसार का त्याग करके वन चले जाना चाहिए? अथवा उसे समाज में रहना चाहिए और एक परजीवी की तरह समाज पर निर्भर रहना चाहिए? *उपनिषद्* पलायनवाद या कर्मसंन्यास नहीं सिखाता कि सभी कर्मों का त्याग कर दिया जाय या स्थापित नियमों को भंग कर दिया जाय। *भगवद्गीता* का भी कहना है कि कर्म किए बिना व्यक्ति एक क्षण भी नहीं रह सकता और कर्म के रहस्य बड़े गहरे हैं और जब व्यक्ति कर्मों से बंधा हुआ है तो उसे उचित कर्मों का ही चुनाव करना चाहिए, कर्म केवल इच्छाओं पर आधारित नहीं होने चाहिए बल्कि तर्क और अन्तःप्रज्ञा के अनुरुप होने चाहिए। अन्तःप्रज्ञा का आशय केवल व्यक्तिगत अन्तःप्रज्ञा नहीं है बल्कि प्राचीन ऋषियों का सम्पूर्ण ज्ञान है जिसके अनुसार पुरुषार्थ अर्थात् मनुष्य के चार प्रमुख कर्तव्यों; धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विधान किया गया है। काम और अर्थ को प्राप्त करना चाहिए किन्तु यह धर्म के नियमों से अनुषासित होना चाहिए। काम और अर्थ का इस प्रकार से पालन करना मोक्ष की ओर ले जाता है जोकि जीवन का परम पुरुषार्थ हैं। धर्म दो प्रकार का हो सकता है–

1 – साधारण धर्म

ये सामान्य सार्वभौमिक नैतिक नियम है–जैसे चोरी न करना (अस्तेय), अहिंसा, सत्य, वस्तुओं का संग्रह न करना (अपरिग्रह), आत्म–संयम तथा आन्तरिक एवं बाह्य शुद्धि (शौच)

2 – विशेष धर्म

यह सब पर लागू न होकर विशिष्ट व्यक्तियों के वर्ग पर लागू होता है। इसके अन्तर्गत् वर्णधर्म (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) एवं आश्रम–धर्म (जीवन की चार व्यवस्थाएं–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) सम्मिलित है।

उपरोक्त दार्शनिक ज्ञान और आचरण को अपनाते हुए *ईश उपनिषद्* के अनुसार, सौ वर्ष तक जीने का यत्न करना चाहिए। कर्म और पुनर्जन्म का चक्र बहुत जटिल है किन्तु यदि कोई निष्काम ढंग से अपने कर्तव्यों का पालन करे तो यह कर्म के बन्धन से बंधता नहीं है, यह स्वतन्त्र हो जाता है, और पूर्ण आनन्द को प्राप्त करता है।

कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (*ईशावास्योपनिषद्*, 2)

ई – उपासना (शक्ति का मार्ग)

तत्त्व, वैराग्य और कर्म के सम्यक् अवबोध के साथ उपनिषद् भक्ति (उपासना) के रहस्य को भी खोलता है। उपासना शब्द के कर्म–काण्ड और पूजा–पाठ से सम्बद्ध बहुत अर्थ हो सकते हैं किन्तु उपासना का सार अर्थ है–सर्वत्र ईश्वर के ऐक्यभाव की विद्यमानता का विचार, ईश्वर के अन्तर्यामी और जगतातीत होने का भाव सच्चे वैराग्य का मार्ग खोलता है। उपासना के अन्तर्गत् ईश्वर की सेवा और निष्ठा अथवा जड़ अथवा चेतन सम्पूर्ण जगत् के कल्याण के भाव से अपने कर्तव्यों का पालन करने का विचार निहित है। इस प्रकार समस्त कर्म और धर्म का आधार ईश्वर की उपासना होनी चाहिए, कुछ उपासक/साधक जगत् (कार्य–ब्रह्म) को ईश्वर (कारण–ब्रह्म) से भिन्न मानते हैं और इसमें एक ही पक्ष की उपासना करते हैं। इन दोनों को तात्विक दृष्टि से भिन्न मानना बहुत बड़ी भूल है तथा एकांगी आराधना या उपासना में संलग्न रहना भी एक भूल है। उपनिषद् गहन अन्धकार वाले लोक के रुपक की सहायता से यह निरुपित करते हैं, दोनों प्रकार के उपासक जो कार्य–ब्रह्म (जगत्) और कारण–ब्रह्म (ईश्वर) को भिन्न मानकर किसी एक की उपासना करते हैं, इस अन्ध लोक में गिरते हैं।

इदम् अन्धतमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।

ततो भूय इव ते तमो या उ सम्भूत्या रताः।। (*ईशावास्योपनिषद्*,12)

इस प्रकार उपासना का मूल सार है भगवद्–दृष्टि अर्थात् ईश्वर को देखने का भाव प्राप्त करना। यह भाव केवल ईश्वर की सृष्टि तक सीमित न रहकर कर्त्तव्य भाव तथा प्राणी–कल्याण के भाव से किए गये कर्मों तक विस्तृत होना चाहिए। हालांकि साधक के मार्ग में यह खतरा बना रहता है यह निर्दिष्ट कर्मों में प्रवृत्त होकर भी अहंकार से भरा हुआ है, भले ही यह अहंकार सात्विक प्रकार का हो। उपनिषद् कर्त्तव्य–पालन के साथ अहंकार बढ़ने के संबन्ध में हमें सचेत करता है। परम वैराग्य कुछ और नहीं, कर्तापन के अभिमान का त्याग है। पूर्ण शरणागति के भाव को अपनाने से इसका अभ्यास सुकरता से किया जा सकता है। इसलिए उपनिषद् के अन्तिम कुछ मन्त्रों में सूर्य के प्रकाश के रुप प्रतीक वाले ईश्वर के प्रति प्रार्थना एवं समर्पण का भाव व्यक्त किया गया है। इन सबमें कर्म, वैराग्य, उपासना तथा ईश्वर के साथ ऐक्य का विचार ही इसका मुख्य प्रतिपाद्य रहा है। उपनिषद् में ऐसी परम अनुभूति प्रदान करने की ईश्वर से प्रार्थना की गई है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥(*ईशावास्योपनिषद्*,15)

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥(*ईशावास्योपनिषद्*, 16)

10.4 दार्शनिक प्रतिउत्तर

ईशावास्य उपनिषद् का भारतीय दर्शन के वैचारिक आयामों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है। यह वैदिक ज्ञान के सार–तत्त्व का प्रतिनिधित्त्व करता है। यद्यपि इसकी संरचना, मन्त्रों का विषय–वस्तु और उपनिषदों की विभिन्न वैदान्तिक व्याख्याओं से अनेक विषयों पर एकमति का अभाव पाया जाता है, फिर भी इसकी महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। उपनिषदों की एक अन्य श्रेणी जो विभिन्न पृष्ठभूमिक युक्तियों जैसे आख्यान, संवाद, अवस्था–त्रय, पंचकोष, शरीर–त्रय जैसी पद्धतियों पर आधारित है। ईशावास्य उपनिषद् सीधे–सीधे विश्व के सत्य की घोषणा करता है, एवं सम्पूर्ण वैदिक नीतिशास्त्र का सार प्रस्तुत करता है। इसकी शिक्षा अत्यन्त सरल है।यह एक ऐसे वैराग्य का मार्ग है जिसमें भक्ति और कर्म का समन्वय है। इसका समन्वयात्मक मन्त्र भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को इसकी पूर्णता में व्यक्त करता है। संभवतः यही कारण है कि महात्मा गांधी जैसे चिन्तक ने यह कहा है;

"यदि सभी उपनिषद् और सभी धर्म–ग्रन्थ अचानक नष्ट हो जाय केवल ईशोपनिषद् का पहला मन्त्र हिन्दुओं की स्मृति में बचा रहे तो हिन्दू धर्म हमेशा बचा रहेगा।"

पॉल डायसन ने भी इसे स्वीकार किया है कि कितने सुन्दर ढंग से तत्त्व–चिन्तन का समन्वय वैदिक आचरणशास्त्र के साथ स्थापित किया है। स्वामी चिन्मयानन्द ने अपने भाष्य में कहा है–

"इस अद्वितीय उपनिषद् का पहला मन्त्र ही अपने आप में एक लघु दार्शनिक ग्रन्थ है। सत्य के प्रतिपादन में सारग्राही होने के साथ ही यह एक भाषा में सत्य के अनुभूति के पद्धति का सजीव निरुपण करता है जो अपनी दार्शनिक भाषा एवं साहित्यिक पूर्णता में अद्वितीय है। इसके मन्त्र दर्शन के अत्यन्त संक्षिप्त प्रतिपादक हैं और प्रत्येक अपने आप में चिन्तन के अभ्यास का अवसर है।"

अनेक भारतीय चिन्तकों ने *ईशावास्योपनिषद्* के 18 मन्त्रों का सम्बन्ध *भगवद्गीता* के 18 अध्यायों से जोड़ा है। इसका कारण यह है कि दोनों ही ग्रन्थ उपनिषदों के दर्शन को सार–रुप में प्रस्तुत करते हैं। *भगवद्गीता* की तरह *ईशावास्य* में ज्ञान, कर्म और उपासना का अपूर्व संगम है। यह समग्र ज्ञान अत्यधिक संभावनाओं से युक्त है और यह परम अनुभूति/मोक्ष का मार्ग खोलता है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ख) इकाई के अन्त में दिए उत्तरों से अपने उत्तर की जाँच करें।

1. विद्या और अविद्या की औपनिषदिक धारणाओं पर टिप्पणी करें।

.....

.....

.....

.....

2. ईशावास्य उपनिषद् में ॐ के महत्व की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

10.5 सारांश

ईशावास्य उपनिषद् से जुडी उपरोक्त चर्चा से हम निम्नलिखित दार्शनिक बिन्दुओं को निगमित कर सकते हैं–

1. पूर्ण सत्ता का विचार (आरंभिक आवाह्यनात्मक मन्त्र) इसमें विद्यमान है जिसके अनुसार केवल अंश को जानकर हम विश्व का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। गहन अन्तर्दृष्टि के लिए इसके समष्टि और व्यष्टिगत पक्षों का विश्लेषण महत्त्वपूर्ण है। विश्व को इसकी समग्रता में समझा जाना चाहिए।
2. तात्विक दृष्टि से अस्तित्व के दो आयाम हैं; जगत् का उपादान, निमित्त एवं अन्तिम कारण (ईश्वर) और सृष्ट जगत्। हालांकि इसे सृष्टि कहने के बजाय प्रकाशना या अभिव्यक्ति कहना उचित होगा क्योंकि यह सभी वस्तुओं में अन्तर्निहित ऐक्य का प्रतिपादन करता है।
3. ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से द्वैत के ज्ञान और छद्म अहंकार से अविद्या का निर्माण होता है। सम्यक् तात्विक अवबोध को विद्या कहा जाता है। विद्या जीवन में नैतिक और सौन्दर्यशास्त्रीय पूर्णता का मार्ग खोलता है।
4. जहाँ तक व्यावहारिक पद्धति या साधना का सम्बन्ध है, ब्रह्माण्ड की पूर्णता का ध्यान अपेक्षित है। वैराग्य सत और असत के बीच विवेक का परिणाम है। अन्ततः इस वैराग्य का समन्वय धर्म और उपासना से अवश्य होना चाहिए।
5. मूल्य–मीमांसा की दृष्टि से आत्मानुभूति, सत्य, सौन्दर्य और शुभत्व के परम मूल्यों को धारण करती है।

   इसके अतिरिक्त सबकुछ दुःखप्रद है। केवल आत्मा या ईश्वर ही असीम शान्ति प्रदान करने में समर्थ है। आत्म–ज्ञान के अनुसरण में प्रवृत्त न होना आध्यात्मिक आत्महत्या या आत्महनन कहा जा सकता है।
6. अन्ततः ईश्वर या समस्त ब्रह्माण्ड और आत्मा की परम अवस्था अनिवार्य रुप से अनिर्वचनीय है। यह शाब्दिक विमर्श का विषय न होकर साक्षात् अनुभूति का विषय है। परमेश्वर के प्रति समर्पण करके आत्मानुभूति के लिए उस परमेश्वर की कृपा प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

10.6 कुंजी शब्द

आत्मन् : चेतना की अन्तर्भूत/जगत्–व्यापी और जगदातीत अवस्था, इसे ईश्वर या निर्गुण ब्रह्म के समकक्ष रखा जा सकता है इसे ओंकार (ॐ) के अन्त में अमात्र (मौन) से व्यक्त किया जाता है।

ॐ : परम सत्ता या आत्मा का रहस्यवादी प्रतीक, यह ध्यान की सर्वप्रमुख ध्येय वस्तु भी है। यह पूर्ण का प्रतीक है।

अविद्या : यह स्व को न जानने से जुड़ा तात्विक अज्ञान है और अहंकारगत छद्म विश्वदृष्टियों का प्रक्षेपण है।

महावाक्य : वेदान्त दर्शन में प्रधान महत्व के उपनिषदों के चार महान कथनों को महावाक्य कहा जाता है। 1– प्रज्ञानम् ब्रह्म *(ऐतरेय उपनिषद्* 3.3) 2– अहं ब्रह्मास्मि (*बृहदारण्यक उपनिषद्* 1.4.10) 3– तत् त्वं असि (*छान्दोग्य उपनिषद्* 6.8.7) 4– अयम् आत्मा ब्रह्म (*माण्डूक्य उपनिषद्* 2)

निर्गुण ब्रह्म : यह परम सत्ता का रुप एवं गुणरहित आयाम है। इसके विपरीत ब्रह्म का क्रियात्मक पक्ष है जिसे सगुण ब्रह्म कहा जाता है। यह कारण ब्रह्म के रुप में भी जाना जाता है।

पंचकोश : ये मानव–व्यक्तित्व के पांच अधिष्ठान या आवरण हैं जिनका निरुपण तैत्तिरीय तथा अन्य उपनिषदों में किया गया है। ये हैं– अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमयकोष।

प्रधान उपनिषदः : इन मुख्य उपनिषदों का वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत् प्रमुखता से अध्ययन किया जाता है। शंकराचार्य ने इन पर भाष्य लिखे हैं। सामान्य रुप से संख्या में 10 हैं, *ईश (यजुर्वेद) केन (सामवेद) कठ (यजुर्वेद) प्रश्न (अथर्ववेद) मुण्डक (अथर्ववेद) माण्डूक्य (अथर्ववेद) तैत्तिरीय (यजुर्वेद) ऐतरेय (ऋग्वेद) छांदोग्य (सामवेद) बृहदारण्यक (यजुर्वेद)*।

पुरुषार्थ : इसका अर्थ है मानव के सद्गुपण या कर्त्तव्य। ये चार हैं– धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष।

शरीर त्रय : उपनिषदों में मानव के तीन शरीरों की व्याख्या की गई है; स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर।

वेदान्त : यह प्रस्थानत्रय पर आधारित शिक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता है। प्रस्थानत्रय तीन हैं, उपनिषद्, भगवद् *गीता* और *ब्रह्मसूत्र*।

विद्या : यह आत्म या स्व का ज्ञान है।

विवेक : मन की वह शक्ति जिससे यह सत् और असत् के मध्य भेद करता है।

10.7 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

ईशावास्य उपनिषद्: गॉड इज एवरीथिंग, कमेन्टरी बाई चिन्मयानन्द. हरिद्वारः अद्वैत आश्रम सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, 2013.

डायसन, पॉल. *द फिलॉसोफी ऑफ उपनिषद्स.* न्यूयॉर्कः कोस्मिओ क्लासिक्स, 2010.

राधाकृष्णन्, एस. *इण्डियन फिलॉसोफी,* सेकण्ड एडिशन. लन्दनः जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन, 1931.

राधाकृष्णन्, एस. *प्रिंसिपल उपनिषद्स.* न्यूयॉर्कः हार्पर कॉलिन्स, 1963.

शर्मा, सी डी. *अ क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* न्यू देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1990.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

ईशावास्योपनिषद्, शांकरभाष्य सहित. गोरखपुरः गीताप्रेस, विक्रम सन्वत् 2064.

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. 'उपनिषद्' शब्द संस्कृत के तीन शब्द– "उप", "नि" "सद्" से मिलकर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, "पास बैठना"। एक औपनिषदिक परिवेश में शिष्य अपने गुरु के समीप बैठता है। यह गुरु के प्रति सम्मान का प्रतीक है। इस परिवेश में आत्मा और ब्रह्म के विषय में महान कथनों के ज्ञान के प्रकाश के द्वारा अज्ञान का अन्धकार दूर कर दिया जाता है। *ईशावास्य उपनिषद्* भी इस उद्देश्य की पूर्ति करता है। उपनिषदों (*भगवद् गीता* और *ब्रह्मसूत्र* के साथ) पर आधारित शिक्षा को वेदान्त भी कहा जाता है। महावाक्यों में यह साररुप में व्यक्त हुआ है जो आत्मा,जगत् और ईश्वर की एकता का प्रतिपादन करते हैं।

2. ईशावास्य शब्द का अर्थ है ईश्वर या विश्व के अन्तःनियन्ता के द्वारा व्याप्त होना। यह इस पर प्रकाश डालता है कि उपनिषदों को किस प्रकार समझा है। इसमें यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार जगत् ईश्वर की ही अभिव्यक्ति है जो अन्दर और इसके बाहर जगह फैला हुआ है। यह अन्तर्भूत और जगदातीत है। ईश्वर सत्, चित् और आनन्द होकर सत है, नाम और रुप से निर्मित असत जगत् उसी का प्रक्षेपण या आभास है। सार्वभौमिक ईश्वर के एकत्व की अनुभूति को ईशावास्य शीर्षक से व्यक्त किया गया है। यह पूर्ण के विचार को भी व्यक्त करता है। अर्थात् जो कुछ है सब ईश्वर रुप है।

बोध प्रश्न 2

1. उपनिषद् की भाषा में, विद्या और अविद्या की अवधारणा प्रधान महत्त्व की है। अविद्या का अर्थ है आत्म, जगत् और ईश्वर के यथार्थ को न जानना। यह भ्रामक रुप से अहंकार से पहचान जोड़ना है, एक असम्यक् विश्वदृष्टि है और आत्म और जगत् से भिन्न ईश्वर की धारणा है। इस द्वैत रुप अज्ञान को केवल इस आत्मानुभूतिरूप ज्ञान या विद्या से ही मिटाया जा सकता है कि ईश्वर जगत् के सार में है। इस ज्ञान और विवेक के ही बल पर ही असत और जो आत्मा का आभास है–का त्याग किया जा सकता है। यह वैराग्य का भाव विद्या का अनायास परिणाम होता है। यह निष्काम कर्मरुप धर्म–पालन का मार्ग खोलता है। एकत्व का विचार भक्ति के पथ का भी

आधार–तत्त्व है। इसलिए वेदान्त में समस्त दुःखों का कारण अविद्या का माना गया है जिसका वास्तविक प्रतिकार विद्या है।

2. उपनिषदों के अनुसार, जो कुछ सत है, वह अनुभूतिगम्य है। परम सत्ता केवल एक तार्किक परिकल्पना नहीं है। यद्यपि परम सत्ता की भाषिक अभिव्यक्ति असंभव है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इसकी अनुभूति नहीं हो सकती। इसकी अनुभूति की कई पद्धतियां हैं और ॐकार का ध्यान करना सबसे प्रभावकारी विधियों में से एक है।

ॐ समस्त सत्ता का प्रतीक है। *ईशावास्य उपनिषद्* के प्रार्थना–मन्त्र में ॐ को पूर्ण के रुप में वर्णित किया गया है। अ जाग्रत् अवस्था को व्यक्त करता है, उ स्वप्नावस्था को, म सुषुप्ति को तथा अन्त का मौन तुरीयावस्था, आत्मा या ब्रह्म को व्यक्त करता है। यह साररुप में सर्व की सम्पूर्ण धारणा को व्यक्त करता है। ॐ या पूर्ण स्रष्टा और सभी स्तरों पर सृष्टि को भी व्यक्त करता है। न केवल ईशावास्य उपनिषद् में बल्कि समग्र वैदिक परम्परा में और दूसरे पन्थों में ॐ शुभ एवं उच्च श्रद्धा का प्रतीक है। इसे साररुप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है–

अ जाग्रत्

उ स्वप्न

म् सुषुप्ति

मौन तुरीय

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 11 कठोपनिषद्[11]

रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 परिचय

11.2 नचिकेता की कथा

11.3 आत्म (स्व) का स्वरूप

11.4 आत्म (स्व) की अनुभूति

11.5 अनुभूति के साधन

11.6 वैयक्तिक (अण्ड) आत्म एवं परम (ब्रह्माण्ड) आत्म

11.7 अनुभूति का फल

11.8 जीयन–मुक्तिः जीवन में ही अनुभूति

11.9 विदेह–मुक्ति

11.10 सारांश

11.11 कुंजी शब्द

11.12 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

11.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

कठ उपनिषद् प्रसिद्ध उपनिषद् है जो मानवीय जीवन के लक्ष्य सम्बन्धी आधारभूत प्रश्नों के उत्तर को प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत इकाई के अन्त में, आशा की जाती है कि आप इन प्रश्नों के उत्तर जानने में सक्षम होंगे;

- जीवन और मृत्यु के अर्थ के प्रश्न.
- अमरत्व के प्रश्न
- धर्म और अधर्म के अर्थ के प्रश्न
- ज्ञान और अज्ञान के प्रश्न
- संसार (जगत्) के अन्तिम (परम) कारण सम्बन्धी प्रश्न

[11] डॉ. जॉन पीटर, सं. एन्टोनीज महाविद्यालय, कोटागिरि, अनुवाद– श्री आशुतोष व्यास, परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र), एसोआईटीएस, इग्नू

11.1 परिचय

कठ उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित है। जीवन के रहस्यमय सत्यों का अवगाहन संक्षिप्त और सुस्पष्ट पूर्णतः के साथ करने के कारण इस उपनिषद् की महनीयता है। जीवन और मृत्यु के आधारभूत प्रश्नों, जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों के अर्थ इस उपनिषद् की विषय–वस्तु हैं। वेदान्त के एकीकृत सिद्धान्त का अन्य उपनिषदों से बेहतर प्रस्तुतीकरण इस उपनिषद् में है। यम जैसे गुरू और नचिकेता जैसे शिष्य के कारण यह सम्वाद प्रतिभा की उच्चतम अवस्था को प्राप्त है। उपनिषद् की पृष्ठभूमि/आलेखन गुरू यम और गम्भीर, ईमानदार और प्रेरित शिष्य नचिकेता के मध्य सम्वाद में अवस्थित है। शिष्य को नित्य और अनित्य की समझ रखने वाला बताया गया है। 12 वर्ष के नचिकेता को वाजश्रवा का पुत्र बताया गया है। यह बालक अपने पिता और समाज के प्रति समर्पित है। यह आत्म–ज्ञान प्राप्ति हेतु परम इच्छा और जिज्ञासा रखता है। यम से मिलने पर उसे तीन वरदान प्राप्त हुए। बालक ने प्रथम वरदान में, पिता के उसके प्रति क्रोध की शान्ति, द्वितीय में, स्वर्ग प्राप्ति हेतु उपायभूत अग्निचयन का ज्ञान, और तृतीय में, आत्म–ज्ञान–सम्बन्धी ज्ञान मांगा। कठ उपनिषद् में दो अध्याय और एक सौ बीस श्लोक हैं। प्रत्येक अध्याय में वल्ली कहे जाने वाले तीन खण्ड हैं।

11.2 नचिकेता की कथा

नचिकेता के पिता वाजश्रवा ने पुण्य–प्राप्ति हेतु यज्ञ करते हैं। विश्वजित् यज्ञ की पूर्णाहुति पर, उन्होंने बूढ़ी और अशक्त गायों को ब्राह्मणों को दक्षिणा में प्रदान किया। इस प्रकार के यज्ञ में यज्ञकर्त्ता से आशा की जाती है कि वह अपनी सम्पूर्ण प्रिय सम्पदा पुरोहितों को दान में दें। बालक नचिकेता पिता के कृत्य को देखकर व्यथित हुआ और दान के लिए प्रियवस्तु के रूप में स्वयं को प्रस्तुत किया। अपनी सम्पूर्ण सम्पदा को दान करने के पिता के प्रण को जानकर, नचिकेता ने पिता से कहा, "प्रिय पिता, आप मुझे किसे दान देंगे?" पिता के उत्तर न देने पर नचिकेता ने प्रश्न बारम्बार दोहराया, तब क्रोधित होकर पिता ने कहा, "यम को"। अपने वचन को महसूस कर पिता संताप को प्राप्त हुए, परन्तु पिता की बात का मान रखते हुए, नचिकेता यम के पास चला गया। बिना अन्न–जल ग्रहण के तीन रात–दिन यम का इंतजार करता रहा। नगर वापिसी पर यम बालक पर दयावान हुए और हठ देखकर प्रसन्न हुए। उन्होंने बालक नचिकेता को तीन वरदान दिये। बालपन होने पर भी नचिकेता प्रज्ञावान था।

उसने पहला वर मांगा कि उसके पिता चिन्ता, क्रोध से मुक्त होकर मनःशान्ति को प्राप्त हों।

द्वितीय वर के रूप में उसने उस यज्ञ का ज्ञान मांगा, जिससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और व्यक्ति भूख, प्यास, क्रोध और संताप से मुक्त हो जाता है। यम ने प्रसन्नतापूर्वक यह वरदान दिया। उन्होंने बताया कि कैसे यज्ञीय अग्नि विश्व का स्रोत बनती है। नचिकेता ने बताये गये समस्त प्रक्रिया–विधानों को सुना दिया। यम बालक की मेधा–शक्ति और योग्यता से प्रसन्न होकर यम ने कहा, "आज से यह यज्ञीय अग्नि तुम्हारे नाम से जानी जायेगी।" और यह भी कहा कि जो भी यह अग्नि तीन बार प्रज्ज्वलित करेगा, वह तीन देवताओं से संयुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होगा।

तीसरे वर के रूप में नचिकेता ने मृत्यु के पश्चात मनुष्य का क्या होता है? इस विषय में ज्ञान चाहा। उसने पूछा, "मृत्यु के पश्चात मनुष्य का क्या होता है, इस सम्बन्ध में संशय है। कुछ कहते हैं कि उसका अस्तित्व होता है और अन्य कहते हैं कि नहीं होता।" यम ने कहा कि महान विद्वान भी इस सन्दर्भ में संशयग्रस्त हैं और इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त जटिल एवं सूक्ष्म होने के कारण बोध में कठिन है। ऐसा कहकर यम ने बालक को इस प्रश्न के प्रति हतोत्साहित करना चाहा और भौतिक/सांसारिक वस्तुओं; धन, स्वर्ण, घोड़े, हाथी, भूमि इत्यादि लेने का प्रस्ताव दिया। नचिकेता उत्तर प्राप्ति हेतु दृढ़ और अडिग रहा। सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता के बोध वाले नचिकेता ने नित्य ज्ञान की प्राप्ति को महत्व दिया। नचिकेता के सांसारिक सुख–इच्छाओं से निवृत्ति से यम प्रभावित होकर यम ने नित्य ज्ञान को निर्देशित करना प्रारम्भ कियाय अविद्या और विद्या भिन्न मार्गों की प्राप्ति के कारण एक–दूसरे से भिन्न हैं। सत्य–प्राप्ति हेतु *कठोपनिषद्* में दी गई शिक्षाओं में वर्णित ज्ञानमार्ग का अनुसरण किया जाना चाहिए।

11.3 आत्म का स्वरूप

अजन्मा, नित्य, अन्तहीन, पुराण (प्राचीन) और अनश्वर आत्म का स्वरूप है। आत्म का न जन्म है न मृत्यु। यह सर्व–आच्छादक, दूरस्थ, समीपस्थ, और सर्वव्यापक है। यह आनन्द–परिपूर्ण और आनन्द–रहित दोनों है। यह अशरीरी होते हुए भी सबको आच्छादित करने वाला है। यह सूक्ष्मतम से अधिक सूक्ष्म और उसी समय महानतम से महान है। पुरुष (आत्म) सूक्ष्मतम है। यह इन्द्रियगोचर वस्तुओं, इन्द्रियों, मनस्, बुद्धि, और महत्, व्यक्त हिरण्यगर्भ और अव्यक्त से भी सूक्ष्म है। आत्म सबमें है। आत्म ध्वनिहीन, रूपहीन, अनश्वर, स्वादहीन, गन्धहीन, नित्य, स्थिर, सर्व–आच्छादक, सूक्ष्मतम, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। इसका प्रकाश सूर्य, चन्द्र, तारों, प्रकाश और अग्नि से भी महानतर है। इसे देखा नहीं जा सकता, यद्यपि इससे सबकुछ प्रकाशित है। कोई भी मर्त्य श्वांस मात्र से जीवित नहीं रहता। यह आत्म से जीवित रहता है, जिस पर सम्पूर्ण अस्तित्व निर्भर रहता है। ब्रह्म में सबकुछ स्थित है और यह सबका स्रोत है। उसकी तुलना पेड़ से की जा सकती है जिसकी मूल आकाश में और शाखाएं नीचे अवस्थित हैं। प्रत्येक सम्भावित वस्तु इसमें स्थिति को पाती है। जिससे कोई भी पारगमित नहीं हो सकता। उसके आदेश पर, विधाता भी प्राण–शक्ति के समान उसमें श्वसन करता प्रकट होता है। यह प्राकृतिक नियम (ऋत्) को बनाने वाला है, और वज्र के समान भयकारी है। आत्म की शक्ति से अग्नि, सूर्य, वायु, और यहां तककि मृत्यु भी नियन्त्रित हैं। आत्म के आदेश से सभी शक्तियां और देवता अपने नियत दायित्वों का निर्वहन करते हैं। पुरुष (आत्म) सभी से महान है। यह, सबके द्वारा अभिलषित सत्य है। यह ही सूर्य है, आकाश में वायु, यज्ञवेदी की अग्नि और यज्ञ का सोमरस है। फिर भी उसका रूप दृष्टि के क्षेत्र से परे है। कोई भी इन नेत्रों से उसे नहीं देख सकता।

आत्म चेतन है। यह शरीर का गुणधर्म नहीं है, क्योंकि भौतिक द्रव्य स्वरूप में आन्तरिकतः संज्ञारहित है। आत्म शरीर का उत्पाद्य नहीं है, क्योंकि अचेतन भौतिक द्रव्य चेतन/चेतनावान को उत्पन्न नहीं कर सकता। यह शरीर का अंग भी नहीं है, क्योंकि यह सम्पूर्ण शरीर को आच्छादित करता है और इसे जीवन्त और चलायमान/कम्पायमान बनाता है। शरीर का प्रत्येक अंग अपने अस्तित्व के लिए आत्म पर ही निर्भर है। ये सभी आत्म पर निर्भर हैं, अपने अपने अस्तित्व के लिए आत्म उन पर निर्भर नहीं है। यह शरीर की सीमाओं से सीमित नहीं है। शरीर के क्षीण होने पर भी यह एकमात्र जीवित रहता है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) उत्तर के लिए प्रदत्त अवकाश का प्रयोग करें।

ख) इकाई के अन्त में प्रदत्त उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1. नचिकेता के द्वारा मांगे गये तीन वरदानों की व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2. आत्मा के लक्षणों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

11.4 आत्म की अनुभूति

आत्मानुभूति करने वाला ही आत्म–सम्बन्धी ज्ञान के बारे में बता सकता है। यम कहते हैं, "अरे मनुष्य! उठो, जागो और सत्य का अनुभव करो।" सत्य को जानने का मार्ग छुरे की पैनी धार के समान है। कठिन होते हुए यही मार्ग अनुसरित किया जाना चाहिए। कठिनाई आत्म और अनात्म के विवेक में है। जो भी व्यक्त है वह अव्यक्त ब्रह्म में है। साधारण मनुष्य इस सत्य की अनुभूति में असफल होता है और संसार को ब्रह्म से भिन्न देखता है। इन्द्रिय स्वरूपतः बहिर्मुख हैं। फलतः, जो स्वयं का शरीर और इन्द्रिय से तादात्म्य मानता है, वह केवल इन्द्रिय और बाह्य–जगत् को ही समझने और जानने का प्रयास करता है। इन्द्रिय में मग्न रहने वाले ये आत्म–दृष्टि प्राप्त नहीं करते हैं। ये व्यक्ति अपने विचारों और लक्ष्यों में अबोध बच्चों के समान हैं। केवल थोड़े से अमरत्व की आकांक्षा वाले बुद्धि मान (प्रज्ञावान) व्यक्ति अपने ध्यान को अन्तर्मुख करते हैं और आत्म–ज्ञान और आत्मानुभूति सम्बन्धी जिज्ञासा करते हैं।

11.5 आत्म–अनुभूति के साधन

केवल तर्क से आत्म–ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है। ज्ञान तर्क से अधिक है। यह शास्त्र–ज्ञान से या मानवीय बुद्धि से प्राप्तव्य नहीं है। यह केवल आन्तरिक अनुभूति/

साक्षात्कार और अनुभव से सम्भव है। अनियन्त्रित मन वाला व्यक्ति अशुद्ध होकर भौतिक सुखों में लिप्त हो जाता है। सांसारिक सुखों की चाह न रखने वाला व्यक्ति अमरत्व को प्राप्त करता है। मन के ध्यान और स्वयं में अन्तर्वासी के रूप में आत्म को अवस्थित पाना ही अनुभूति/साक्षात्कार का मार्ग है। आत्म सूक्ष्मतम है और सभी के हृदयों में विराजित है। अनुभूति कठिन है, परन्तु प्रज्ञावान इसे प्राप्त करते हैं। इच्छाओं से मुक्त आत्म को देखता है और दुःखों से मुक्त होता है। समस्त बाधाओं की अप्रकटन पर आत्म की उपलब्धि होती है। जब मन सहित पांचों इन्द्रियां विरत हैं और बुद्धि अक्रिय हो जाती है, तब उच्चतम अवस्था प्राप्त होती है। यह संक्रमणशील संसार के सुख–दुःख को त्याग देता है। सत्य को जानने और अवबोधन के पश्चात्, यह उस सूक्ष्म आत्म को उपलब्ध करता है और आनन्दरत होता है। आत्म–ज्ञान प्रत्येक को मुक्त करता है। भौतिक वस्तुओं और बाह्य–सुखों में रत अबुद्धि मान व्यक्ति जन्म–मृत्यु के चक्र में फंसा रहता है। प्रज्ञावान/बुद्धिमान आत्म को जानकर मुक्त हो जाता है। नचिकेता ने मृत्यु के पश्चात् की अवस्था के सत्य सम्बन्धी प्रश्न किया। यम कहते हैं कि कुछ आत्माएं शरीर प्राप्ति हेतु गर्भ में पुनः प्रवेश करती हैं। जो मुक्त नहीं हैं पुनः जन्म पाते हैं। कुछ अन्य अप्रबोधित आत्माएं पादप–शरीर को पाती हैं। इस पुनर्जन्म में भेद (भिन्न–भिन्न शरीरों की प्राप्ति) का कारण कर्म हैं।

स्वर वेदों की समस्त शिक्षाओं और पवित्र कार्यों का लक्ष्य है। यह वह परमार्थ है जो समस्त तपस्याओं का अन्तिम उद्देश्य है। व्यावहारिक और पारमार्थिक ब्रह्म है। जो भी स्वर और आत्म (ब्रह्म) की तादात्म्यता को जानता है, वह समस्त काम्य को पाता है। वह अविद्या और विद्या, कारण और कार्य और अन्य समस्त क्षेत्रों से परे हो जाता है।

यह ज्ञान तर्क, विचार, अन्तर्प्रज्ञा या बुद्धि से प्राप्तव्य नहीं है, अपितु अपने हृदय में प्रवेश करके प्राप्त किया जा सकता है। स्वयं में झांकना और सूक्ष्म विषय को समझना मोक्ष को सम्भव बनाता है। अनात्म और आत्म का भेदज्ञान (विवेक) आत्मानुभूति के लिए आवश्यक है। जैसे कोई गेंहू को घुन से पृथक् करता है, उसी प्रकार आत्म से शरीर को पृथक् करना चाहिए। यह योग स्वयं के प्रयास और कौशल से पाया और खोया जा सकता है। योग मनस् के द्वारा इन्द्रियों का नियमन है। योगी मन की चंचलता से मुक्त होता है।

जैसेकि आत्म स्वयं को सब पर प्रकट नहीं करता, इसी तरह यह सबको उपलब्ध/प्राप्त भी नहीं होता। यह शास्त्राध्ययन और बुद्धि से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। यह ध्यानावस्थित और शुद्ध मन वाले सत्यान्वेषी द्वारा दृष्ट और अनुभूत है। जो बुरे आचरण से रहित नहीं है, जो अनियन्त्रित मन वाला है, और जो ध्यानस्थ नहीं है वह आत्म की झलक भी नहीं पा सकता है।

11.6 वैयक्तिक आत्म और ब्रह्माण्डीय आत्म

आध्यात्मिक क्षेत्र में, सत् दो तरह से समझा जा सकता है, वैयक्तिक आत्म और ब्रह्माण्डीय आत्म। ब्रह्माण्डीय आत्म उत्पन्न सत् की बुद्धि और चेतना में प्रवेश करके हृदय की गुफा (गुहा) में निवास करता है। यह सजीवों के जीवन को प्राणित करता है। वैयक्तिक आत्म के रूप में उसी क्षण यह मनुष्य के अच्छे–बुरे कर्मों का फल भोगता है। आत्म सर्वज्ञ, जो जन्मता या मरता नहीं। यह रचित नहीं है। शरीर के क्षय होने पर आत्म का क्षय नहीं होता है। आत्म न मरता है, न मारता है। जैसे वायु सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है और बर्तनों के आकार के कारण भिन्न–भिन्न मानी जाती है, उसी तरह आत्म समस्त प्राणियों के हृदयों

में निवास करता है, और भिन्न–भिन्न रूप में प्रकट होता है। अपनी परम अवस्था में यह अगोचर और अन्तःस्थ है। इसकी उपस्थिति से रहित कोई स्थान नहीं है। यह अन्तर में, बाहर में और सर्वत्र है।

नित्य ब्रह्म ग्यारह द्वारों वाले नगर में निवास करता है। ये द्वार निम्नलिखित हैं; सिर में सात, एक नाभि में, दो निम्नभाग में, एक अग्रमस्तिष्क में। आत्म भौतिक शरीर की अध्यक्षता करता है। *कठोपनिषद्* में एक सुन्दर रूपक से आत्म और शरीर के सम्बन्ध को दर्शाया गया है। शरीर की तुलना एक ऐसे रथ से की गई है जो जीवन–मार्ग पर अन्तहीन यात्रा कर रहा है, मन की तुलना लगाम, इन्द्रियों की घोड़ों और बाह्य वस्तुओं की तुलना सड़क से की गई है। आत्म भोक्ता है। यदि कोई अनियन्त्रित मन वाला और अविद्याग्रस्त है उसकी इन्द्रियां बेलगाम घोड़ों की तरह हो जाती हैं। नियन्त्रित मन रथ को सही दिशा में ले जाता है। अशुद्ध मन से लक्ष्य–प्राप्ति कठिन है।

11.7 अनुभूति का फल

अनुभूति के पश्चात् व्यक्ति संतप्त नहीं होता है, क्योंकि आत्म पर ध्यान के फलस्वरूप अविद्या से मुक्ति हो जाती है। अनुभूत आत्म संतप्त नहीं होता क्योंकि यह ब्रह्माण्डीय आत्म को वैयक्तिक आत्म जैसा और सर्व–आच्छादक रूप में अनुभव करता है। यह बिना किसी भौतिक लगाव/मोह (एषणा) के और बिना नाम या रूप के सभी के हृदयों पर ध्यानावस्थित होता है। बुद्धिमान सत्य का अनुभव करता है कि आत्म इन्द्रियों से विरक्त है। इन्द्रियां केवल पंच महाभूतों का उत्पाद्य हैं। उनका अस्तित्व और क्रियाक्षेत्र सीमित और परिवर्तनशील है। आत्म उनसे असीमित और कूटस्थ (अपरिवर्तनशील) होने के कारण पूर्णतः भिन्न है। आत्म को 'यह वह है' (वैयक्तिक आत्म और ब्रह्माण्डीय आत्म ऐक्यता/तादात्म्यता) के रूप में जानने वाला भयमुक्त हो जाता है। मुक्त होकर, जन्म–मरण के जाल से परमतः/पूर्णतः मुक्त हो जाता है। मन की शुद्धता पर जब आत्मानुभूति होती है, तब द्वैत और बहुत्व बाह्य संसार, जोकि सीमित, सीमाबद्ध और बद्धकारी है, का अन्त हो जाता है। जाग्रत् लोग अरण्य काष्ठ में अरणि की पूजा करते हैं। अरणि (अग्नि) सर्व–आच्छादक आत्म ही है। गर्भ के अन्दर सुरक्षित भ्रूण की तरह अग्नि काष्ठ में सुरक्षित होती है। यह केवल अनुभूत (साक्षात्कृत्) व्यक्ति को ही दिखाई देती है। जो इस सत्य को जानता है वह आत्मा को जीवन को स्थित करने वाले और भूत एवं भविष्य के स्वामी के रूप में अनुभव करता है। इस प्रकार जो अन्यों के लिए अज्ञात और अज्ञेय है, वह बुद्धि के द्वारा ज्ञेय बन जाता है। बुद्धि द्वारा प्रकाश, स्वाद, गन्ध, ध्वनि, स्पर्श आदि को ग्रहण करने की सामर्थ्य आत्म की सामर्थ्य ही है। परम सत् के लिए कुछ भी अज्ञेय नहीं है। अनुभूत का आत्म निर्मल जल में उड़ेले गये निर्मल जल के तरह निर्मल रहता है। जो आत्म को समझने और जानने में समर्थ है अमर हो जाता है। जो व्यक्ति इस सत्य को देखता और इसका अनुभव करता है जीवित (वर्तमान शरीर में रहते हुए) रहते हुए भी ब्रह्म पद को प्राप्त करता है। वह जीवन–मुक्त हो जाता है।

11.8 जीवन–मुक्तिः जीवित रहते अनुभूति

उपनिषदों में आत्म–ज्ञान का लाभ दो रूपों में व्यक्त किया गया है। एक इसी जीवन में, दूसरा मृत्यु के पश्चात्। *कठोपनिषद्* इनको जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति कहता है। मृत्यु के पश्चात जन्म–मृत्यु के चक्र से मुक्ति और अमरत्व प्राप्त होता है, यहीं शरीर में रहते हुए

पृथ्वी पर प्रामाणिक अर्थपूर्ण जीवन के प्रति ध्यानाकर्षित होता है। जीवन मुक्ति भांति प्रकार से मानसिक स्तरों पर प्राप्त ज्ञान–लाभ है। जीवन में रहते हुए संतुष्टि की भावना (अहसास) अनुभूति का प्रथम लाभ है। अनुभूत व्यक्ति सीमाओं से मुक्त और सभी से सम्बन्धित होता है। सर्व–आच्छादक आत्म को स्वयं में अनुभूत करने के कारण विभक्त होने या निषेध की भावना नहीं रहती। द्वितीय, यह मानसिक एवं भावनात्मक स्तर पर निर्भर नहीं रहता। वस्तुओं की प्राप्ति न होना या वंचित होना, सम्बन्ध या विछोह से भावनात्मक रूप से प्रभावित नहीं होता। अनुभूत व्यक्ति (साक्षात्कृत) सम्पत्ति, पद, व्यक्ति, शक्ति, सत्ता, प्रसिद्धि, सम्मान आदि बाह्य कारकों पर निर्भर नहीं रहता। तृतीय, अनुभव (साक्षात्कार) से भावनात्मक संतुलन या स्थिरता की सामर्थ्य का उदय होने से जीवन में किसी भी परिस्थिति का सामना करने की योग्यता आ जाती है। भावनात्मक अस्थिरता आत्म को प्रभावित नहीं करता है।

11.9 विदेह–मुक्ति

जीवन मुक्ति जीवित रहते मुक्त होना है, वहीं विदेह मुक्ति मृत्यु के पश्चात् मुक्ति है। *कठोपनिषद्* में अविद्याग्रस्त व्यक्ति के साथ क्या होता है, यह स्पष्टतया बताया गया है। मृत्यु के पश्चात् अनुभूत व्यक्ति केवल देहपात करता है। मृत्यु आत्म का पंच महाभूत से निर्मित शरीर से वियोग है। देह (शरीर) का लय पंच महाभूतों में हो जाता है। अज्ञानी के लिए सूक्ष्म और कारण शरीर अस्तित्व में रहते हैं। सूक्ष्म शरीर संसार में आने के लिए अन्य भौतिक (स्थूल) शरीर की चाह रखता है।

पुनर्जन्म अन्य शरीर में घटित होता है। कर्म–सिद्धान्त पुनर्जन्म की प्रक्रिया में क्रियाशील रहता है। प्रत्येक शरीर में आत्म अच्छे और बुरे कर्मों का अनुभव करता है और उसी के अनुसार धर्म और अधर्म प्राप्त करता है। ये धर्म और अधर्म पूर्वजन्म के अच्छे और बुरे फलों के भोग के लिए पुनर्जन्म का निर्णय करते हैं। अज्ञानी व्यक्ति में शेष अफलभूत पुण्य–पाप के भोग हेतु सूक्ष्म और कारण शरीर अन्य भौतिक शरीर को पाने को बाध्य होते हैं। इस प्रक्रिया के विपरीत, अनुभूत व्यक्ति के जीवन में पुनर्जन्म प्राप्ति का कारण बनने वाले कोई नये पुण्य–पाप नहीं होते हैं। मुक्त व्यक्ति की मृत्यु पर तीनों शरीर विश्व में व्याप्त हो जाते हैं। ज्ञानी के लिए व्यक्ति रूप में कोई भी जीवित नहीं है। व्यक्तिपरक् जीव न होने के कारण जन्म–मृत्यु के चक्र से स्वतन्त्रता सम्भव है। मृत्यु पर, अनुभूत व्यक्ति पुनर्जन्म से मुक्ति के रूप में विदेह मुक्ति प्राप्त करता है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) उत्तर के लिए प्रदत्त अवकाश का प्रयोग करें।

ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. स्व–अनुभूति की आवश्यकता क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

2. स्व–अनुभूति के साधनों की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3. आत्म–ज्ञान के लाभों की दृष्टान्ततः चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

11.10 सारांश

प्रत्येक *उपनिषद्* का मन्तव्य व्यक्ति का आध्यात्मिक उन्नयन है। *कठोपनिषद्* नचिकेता और यम के मध्य सन्वाद–शैली में लिखा होने कारण अत्यधिक प्रसिद्ध है। *उपनिषद्* याजश्रवा के पुत्र नचिकेता की कथा कहता है, जिसने यम द्वारा प्रदत्त शिक्षा ग्रहण की। कथा से आरम्भ कर उपनिषद् गहन दार्शनिक सत्यों को उद्घाटित करता है। यह लौकिक और पारलौकिक जगतों के बारे में सत्य का रहस्योद्घाटन करता है, जो मानवीय समझ से परे है। *उपनिषद्* में आत्म का मन और देह दोनों से भेद स्पष्ट है। इच्छा, क्रोध, घृणा, भय मन से सम्बन्धित हैं। आत्म से तादात्म्य के बिना वस्तुओं के बारे में तटस्थ दृष्टि, व्यक्ति को अनश्वर आत्म की अनुभूति कराती है। आत्म मन और देह नहीं है। जीवित रहते हुए भी, कोई भी उन्हें एकरूप में ग्रहण नहीं कर सकता। इच्छाओं और देहात्म (दैहिक चेतना) की पूर्ण समाप्ति पर केवल आत्म ही भासित होता है।

ऐसे व्यक्ति के लिए मृत्यु नहीं। मृत्यु केवल देह की होती है, आत्म की नहीं। यम के शब्दों में जीवन का लक्ष्य निर्धारित है और यह मोक्ष है। मोक्ष प्राप्त व्यक्ति मृत्यु, पुनर्जन्म और अस्तित्व सम्बन्धी समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है। जो भी ब्रह्मचर्य का पालन करता है, मन और इन्द्रिय नियमन और आध्यात्मिक अनुशासन वाला है, वह ब्रह्म–क्षेत्र में पहुँच जाता है। ध्यान और आत्मानुभूति का उचित पथ वाक् शक्ति का मन में, मन का बुद्धि में और बुद्धि का महत् (आत्म) में लय होना है। मोक्ष का अर्थ है पुनर्जन्म से स्वतन्त्रता। आत्म–ज्ञान यह सम्भव बनाता है। यह ज्ञान आत्म के स्वरूप ज्ञान से आता है। यह धूम्ररहित आग है। यह चेतनमात्र है। आकाश तक फैली जड़ों वाले वृक्ष का रूपक यह बताने के लिए प्रस्तुत किया गया कि स्वर्ग समस्त जीवनों का मूल है। आत्म सभी का स्रोत है। यह सभी को धारण करता है और जो भी इससे परतन्त्र है, उसे जीवन प्रदान करता है। आत्मनिर्भर होने पर भी यह सभी के हृद–गुहा में विराजित है। सभी वस्तुएं और जीवात्माएं अपना आलम्बन और शक्ति आत्म से ही प्राप्त करते हैं। प्राण के चले जाने पर, केवल आत्म रहता है। भौतिक शरीर के क्षीयमान होने पर अपरिवर्तनीय आत्म जीवित रहता है।

आत्म के स्वरूप की अनुभूति केवल सीखने या शास्त्रीय विद्वत्ता से नहीं आती है। यह बुद्धि या अन्तर्प्रज्ञा पर निर्भर नहीं है। अनुभूति साक्षात अनुभव है। अनुभूति नया अन्वेषण नहीं है। यह जो पहले से है उसके प्रति अवधानमात्र है। अज्ञान के कारण आत्म की प्रत्यभिज्ञा या ज्ञान नहीं होता है। समस्त प्राणियों में छिपा हुआ आत्म अनुभूति का विषय है। जो अनुभूत नहीं है, वह पुनर्जन्म के चक्र और मृत्यु की अवस्था से जूझता है। जो यह सोचता है कि वह बुद्धिमान और प्रबुद्ध है वह बारम्बार पुनर्जन्म और मृत्यु के चक्र से गुजरता है। आत्म पर ध्यान से व्यक्ति अज्ञान से छुटकारा पाता है। शरीर के अवधान के बिना जो इहलोक में जीवित है वह जीवन–मुक्त कहलाता है। जब समस्त इच्छायें नष्ट हो जाती हैं और अज्ञान दूर हो जाता है, तब व्यक्ति अमर हो जाता है। उपनिषद् घोषणा करता है कि जो आत्म–अवधान में है, वह मृत्यु से परे मुक्त व्यक्ति है। वह अमरत्व को प्राप्त होता है।

11.11 कुंजी शब्द

रूपक : रूपक; मेटाफर (लैटिन शब्द मेटाफोरिया) वह भाषा है जो असम्बन्धित विषयों से प्रत्यक्षतः जुड़ी हुई होती है। यह वाक्–रूप है जो दो या अधिक वस्तुओं को सम्बद्ध करती है। सामान्यतः, रूपक प्रथम वस्तु को किसी तरह से द्वितीय वस्तु की तरह या समतुल्य रूप में वर्णित करता है।

पुनर्जन्म : पुनर्जन्म पुनः शरीर धारण करने और उस विश्वास को जिसमें मृत्यु से पुनः जन्म तक किसी सार तत्व के अस्तित्व माना जाता है, संदर्भित करता है।

11.12 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

ऑलिवेल, पैट्रिक. *उपनिषद्स.* लन्दनः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1998.

कीथ, आर्थुर बेरीडले. *दि रिलीजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ दि वेद एण्ड उपनिषद्स.* न्यू देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1970.

के. पी. बहादुर. *दि विज्डम ऑफ उपनिषद्स.* न्यू देल्हीः स्टर्लिंग पब्लिशर्स, 1989.

नैयर, शांता एन. *ईकोस ऑफ एन्सियन्ट इण्डियन विज्डम.* न्यू देल्हीः पुस्तक महल, 2008.

प्रसाद, रामानुज. *नो दि उपनिषद्स.* न्यू देल्हीः पुस्तक महल, 2003.

मर्सियर, जीन एल. *फ्रॉम दि उपनिषद्स टू ऑरोबिन्दो.* बैंग्लोरः एशियन ट्रेडिंग कॉर्पोरेषन, 2001.

राधाकृष्णन्, एस. *दि प्रिंसिपल उपनिषद्स.* न्यू देल्हीः हार्पर कॉलिन्स, 1994.

रामा, श्री स्वामी. *एनसाइक्लोपीडिया विदाउट गॉड.* पेन्नसिल्वेनियाः हिमालयन इन्स्टीट्यूट, 1982.

रानाडे, आर डी ए. *कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसफी.* बॉम्बेः भारतीय विद्या भवन, 1968.

शास्त्री, टी. वी. कपालि. *लाईट्स ऑन दि उपनिषद्स.* पॉण्डिचेरी: दीप्ति पब्लिकेशनस, 1985.

सरस्वती, स्वामी परमार्थानन्द. *इन्ट्रोडक्शन टू वेदान्त.* चेन्नई: योगमलिका, 2005.

सुब्रह्मण्यन, एन. एस. *एनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि उपनिषद्स.* न्यू देल्ही: स्टर्लिंग पब्लिशर्स, 1990.

सिंह, बलबीर. *दि फिलॉसफी ऑफ उपनिषद्स.* न्यू देल्ही: आर्नोल्ड–हीनेमन्न, 1983.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

कठोपनिषद्, शांकरभाष्य सहित. गोरखपुर: गीताप्रेस, विक्रम सन्वत् 2074.

कठोपनिषद्. हिन्दी व्याख्या– सुरेन्द्रदेव शास्त्री. वाराणसी: चौखम्भा विद्याभवन, 2007.

11.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. भगवान यम से मिलने पर नचिकेता को तीन वर प्राप्त हुए। बालक नचिकेता ने पहले में, पिता के क्रोध की शान्ति, दूसरे में, स्वर्ग प्राप्ति के उपायभूत अग्निचयन की विधि, और तीसरे में, आत्म सम्बन्धी ज्ञान मांगा।

2. आत्म अजन्मा, नित्य, अनन्त, प्राचीन (पुराण) और अनश्वर है। आत्म का जन्म और मृत्यु नहीं होता है। यह सर्व आच्छादक, दूरस्थ, निकटस्थ और सर्वत्र है। यह आनन्दपूर्ण और आनन्दरहित है। यह देहरहित और सर्व–आच्छादक है। यह सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्म है; उसी क्षण महानतम से महान है। पुरुष सूक्ष्मतम है। यह वस्तुओं, इन्द्रियों, मन, बुद्धि और यहाँ तककि महत् व्यक्त हिरणयगर्भ और अव्यक्त से भी अधिक सूक्ष्म है। आत्म समस्त वस्तुओं में छिपा हुआ है। आत्म ध्वनिरहित, रूपरहित, सूक्ष्मतम, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। यह सूर्य, चन्द्र, तारों, प्रकाश और अग्नि से भी अधिक प्रकाशयान है।

बोध प्रश्न 2

1. आत्मलब्ध ही आत्म सम्बन्धी ज्ञान दे सकता है। आत्म और अनात्म ब्रह्म के मध्य भेद को समझने में कठिनाई है। केवल कुछ बुद्धिमान व्यक्ति जो अमरत्व के इच्छुक हैं यह आन्तरोन्मुख अवधान करते हैं एवं आत्म–ज्ञान और आत्म–अनुभूति की जिज्ञासा रखते हैं।

2. आत्म–ज्ञान तार्किक वाद–विवाद से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। ज्ञान तर्क से अधिक है। यह शास्त्रीय ज्ञान या केवल मानवीय बुद्धि से प्राप्तव्य नहीं है। यह आन्तरिक अनुभूति और अनुभव से प्राप्तव्य है। चंचल मन वाला अशुद्ध हो जाता है और भौतिक सुखों में लिप्त हो जाता है। इन्द्रिय मन के द्वारा और मन आत्म के द्वारा नियन्त्रित है। सांसारिक इच्छाओं से मुक्त व्यक्ति अमरत्व को प्राप्त होता है। अनुभूति मन की एकाग्रचित्तता और आत्म को अपने अन्तर में अवस्थिति पाना है।

3. अनुभूति पर व्यक्ति संताप को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आत्म पर ध्यान द्वारा अज्ञान से मुक्त हो जाता है। अनुभूत आत्म (साक्षात्कृत् आत्म) संतापरहित होता है, क्योंकि यह व्यक्तिगत आत्म को आत्म (ब्रह्माण्डीय आत्म) के समान और सर्व–आच्छादक रूप में अनुभव करता है। यह बिना किसी भौतिक जुड़ाव के और नाम–रूप रहित होकर सभी के हृदयों में ध्यानावस्थित है। बुद्धिमान (प्रज्ञायान) इन्द्रियों से विभक्त रूप में आत्म का अनुभव करते हैं। इन्द्रियां प्रकृति के पांच मूलभूत तत्वों की उत्पाद्य हैं। उनका अस्तित्व और कार्य–क्षेत्र सीमित और परिवर्तनीय है। आत्म असीमित और अपरिवर्तनीय होने के कारण उनसे पूर्णतः भिन्न है। आत्म को "यह यह है" रूप में समझकर व्यक्ति भयमुक्त हो जाता है। मुक्त होकर, यह जन्म और मृत्यु के जाल से पूर्णतः स्वतन्त्र हो जाता है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 12 छान्दोग्य उपनिषद्[12]

रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 परिचय

12.2 ब्रह्म–ज्ञान के साधन

12.3 तज्जलानिति के दार्शनिक निहितार्थ

12.4 विश्व का संभाव्य स्वरूप

12.5 ब्रह्म के स्वरूप में यापसी

12.6 उद्दालक द्वारा वैदिक सूक्तों का खण्डनः उनकी ब्रह्माण्ड विद्या

12.7 स्यपिति का अर्थ और स्वप्नावस्था के साथ इसका सम्बन्ध

12.8 सत् के बन्धन

12.9 आत्म और जगत् का स्रोतः ब्रह्म

12.10 परविद्या (भूमविद्या)

12.11 सारांश

12.12 कुंजी शब्द

12.13 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

12.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप निम्नांकित बिन्दुओं से परिचित हो जाएँगेः

- *छान्दोग्य उपनिषद्* का दार्शनिक महत्व
- कर्मकाण्डीय पक्ष पर गम्भीर विमर्श
- ब्रह्म और आत्मा के तादात्म्य की स्थापना
- उपनिषद् में विद्यमान विश्व रचना के विषय में प्राथमिक विचार तथा जीवन का विकास
- उपनिषद्–गुणात्मक विश्लेषण के साथ परिमाणात्मक विश्लेषण को समाहित करने का प्रथम प्रयास
- उपनिषद् में उल्लेखित आत्मा के स्वरूप के अनेकों ढंग

[12] प्रो. एम आर नन्दन, दर्शन विभाग, मानविकी संकाय, मानद्रथ, अनुवाद श्री प्रवेश कुमार, दिल्ली

12.1 परिचय

यह *उपनिषद् सामवेद* के *ताण्ड्य ब्राह्मण* से सम्बन्धित है। इसमें आठ अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय को अनेक खण्डों में विभाजित किया गया है। तीसरे अध्याय के चौदहवें मन्त्र खण्ड, जिसमें शाण्डिल्य विद्या की चर्चा की गयी है, को छोड़कर पहले पाँच अध्यायों में उपासना एवं होम की चर्चा कर्मकाण्ड के अंग के रूप में की गयी है। इन कर्मकाण्डों (जिनका प्रसार 110 खण्डों में है) पर विशेष बल इस बात की ओर संकेत करता है कि इनसे सम्बन्धित अध्याय और खण्डों को बाहर से जोड़ा गया है। यद्यपि उपनिषद् सभी प्रकार के कर्मकाण्डों का निषेध करते हैं तो भी इन कर्मकाण्डों का महत्व एकाएक कम नहीं होता है। 'अहिंसा सर्वानि भूतानि अत्यत्र तीर्थेभ्याहः' से तात्पर्य है कि यज्ञ के अतिरिक्त अहिंसा सद्गुण है परन्तु यज्ञों में पशु बलि आवश्यक है। जो खण्ड कर्मकाण्ड के महत्व को बड़ा–चढ़ाकर प्रस्तुत करते हैं उनसे भी कोई एकरूपता दिखाई नहीं पड़ती क्योंकि इन्हें अनेक कालों में *छान्दोग्य उपनिषद्* में जोड़ा गया है। इसलिए वर्तमान में उपलब्ध उपनिषद् में बहुत सारी सामग्री बाहर से आई प्रतीत होती है। यह *उपनिषद्* केवल कर्मकाण्डों की ही चर्चा नहीं करता है बल्कि सामवेद के विभिन्न पक्षों को भी महिमामण्डित करता है। उदाहरण के लिए, *उपनिषद्* के प्रारम्भ में ही उद्गीथ (यह वेद मुख्यतः उद्गीथ के महत्व को बताता है) के महत्व की चर्चा की गयी है। यह चर्चा आगे कितने ही खण्डों तक चलते हुए प्रस्ताव, प्रतिहार और स्तोभ आदि के बारे में बताती है। दूसरे अध्याय में केवल सोम के महत्व की चर्चा की गयी है? यद्यपि, *उपनिषद्* के इस भाग में विविधता है तो भी मुख्य उपनिषद् आत्मा और ब्रह्म के वर्णन तक सीमित रहता है। अदार्शनिक विषयों के महत्व को बड़ा–चढ़ाकर कहने का अभिप्राय सम्भवतः मोक्ष की तरफ प्रवृत्ति पैदा करना हो सकता है। उस समय लोग यह विश्वास करते थे कि ब्रह्म साक्षात्कार के लिए ज्ञान के साथ कर्म (कर्मकाण्ड) का 'समुच्चय आवश्यक है।

अन्य उपनिषदों की तरह *छान्दोग्य* में भी ऐसे व्यक्तियों का वर्णन है जिनकी सत्ता काल्पनिक है। यहाँ तक कि *उपनिषद्* का दार्शनिक अंग भी इससे मुक्त नहीं है। इसलिए हमने अपने अध्ययन में दर्शन को पौराणिक आख्यान से पृथक् रखा है। अतः हमारा विवरण अन्तिम तीन अध्यायों पर केन्द्रित रहेगा। साथ–साथ अपवाद स्वरूप तीसरे अध्याय के बारहवें खण्ड पर भी हम विचार करेंगे।

12.2 ब्रह्मज्ञान के साधन

इस खण्ड को जिसका हम वर्णन करने जा रहे हैं गायत्री ब्रह्म कहा जाता है। उपनिषद् का मत है कि गायत्री के द्वारा ब्रह्म को समझा जा सकता है। यही कारण है कि वाक् को ब्रह्म को जानने का एक माध्यम कहा गया है। हमारे संदर्भ में गायत्री को प्रार्थना का एक प्रकार मानना पर्याप्त है। याज्ञवल्क्य के अनुसार, ब्रह्म का भावात्मक वर्णन नहीं हो सकता। क्योंकि ब्रह्म को केवल सकारात्मक वर्णनों से समझना असम्भव है। इसलिए छान्दोग्य में एक पृथक् पद्धति अपनायी गयी है। सातवें, आठवें और नवें मन्त्र में ब्रह्म का वर्णन आकाश के रूप में किया गया है। इस अर्थ में आकाश को सर्वव्यापी और नित्य द्रव्य के रूप में समझा जा सकता है। ये तीनों मन्त्र ब्रह्म को पहले आकाश के रूप में देखते हैं। यह आकाशवत् ब्रह्म पुरुष से बहिर्गत है तथा प्रार्थना के उपर का विषय है। यहीं पर कहा गया है कि आकाश पुरूप के अन्तर्गत् भी है। इस अन्तः पुरुष आकाश की उपासना

से पूर्ण श्रेयस् की प्राप्ति होती है। यहाँ दो सम्भावनाऐं हो सकती हैं। पहली, आकाश का बाहर और अन्दर में विभाजन निराधार है। दूसरी यह है कि आन्तरिक पुरुष जो आत्मा है व्यक्ति का सार है। जबकि बाह्य जगत् का सार है। जब अन्तः आकाश को बहिं आकाश से पृथक् नहीं मानते हैं तो वैयक्तिक आत्मा को भी बाह्य जगत् (ब्रह्म) से भिन्न नहीं माना जा सकता। इसी समीकरण के माध्यम से ब्रह्म और आत्मा को जोड़ा गया है। यही उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य है।

मनुष्य के आन्तरिक आकाश के दो भाग हैं, शरीर के अन्तर्गत् आकाश तथा हृदय के अन्तर्गत् आकाश। इस प्रकार तीन आकाश हुए। एक व्याख्या के अनुसार ये तीन आकाश मन की प्रथम तीन अवस्थाओं; जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के समानान्तर हैं। जबकि प्रथम दो अवस्थाएँ दुःख देती हैं और अन्तिम अवस्था दुःख नहीं देती है। आकाश को इन्हीं तीनों अवस्थाओं के साथ–साथ अनुभव से भी जोड़ा गया है। यह विशेष व्याख्या कुछ समस्या पैदा करती है। जाग्रत् अवस्था केवल कष्टप्रद अनुभव नहीं देती है। यह और भी बहुत सारे अनुभव देती है। तब अन्य अनुभवों को क्यों छोड़ा जाये। दूसरी समस्या यह है कि यदि आकाश के तीन प्रकार हैं तो उन तीनों में गुणात्मक भेद भी होगा। तब आकाश को एक कैसे माना जा सकता है। इसी अध्याय के तेरहवें खण्ड के सातवें मंत्र में ब्रह्म का प्रकाश के साथ एकत्व स्थापित किया गया है। प्रकाश भी आकाश की तरह पुरुष के आन्तरिक और बाह्य हैं। असामान्य रूप से इस मन्त्र को जानने के लिये इस प्रकाश का अनुभव आवश्यक बताया गया है। इस अनुभव में तीन ज्ञानेन्द्रियों, नेत्र, कान और त्वचा का होना आवश्यक है। स्पष्टतः उपनिषद् के अनुसार ये तीनों अंग मात्र भौतिक नहीं अपितु तत्वमीमांसीय ही होंगे।

12.3 तज्जलानिति के दार्शनिक निहितार्थ

यहाँ हम ब्रह्म के सगुण रूप की चर्चा करेंगे जो तज्जलान् का एक अंश है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म के कुछ गुण हैं और उन्हीं गुणों से ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है। तज्जलान् का अर्थ है कि जगत् ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है। तज्जलान का अर्थ है किजगत् ब्रह्म से आया है और उसी में लीन हो जाता है। इसलिए भौतिक जगत् का आरम्भ और अन्त दोनों है लेकिन ब्रह्म का आदि और अन्त नहीं है। यदि हम कुछ समय के लिये उपनिषदों की विज्ञानवादी (आदर्शात्मक) दृष्टि को छोड़ दें तो ब्रह्म का निरूपण जड़ तत्व के अविनाशी स्वरूप को बताता है। जड़ तत्व केवल अविनाशी नहीं है अपितु इसका निर्माण भी नहीं हो सकता। भौतिक शास्त्र विश्व की उत्पत्ति की परिकल्पना कर ले तो हमें जड़ से पूर्व किसी और पदार्थ की कल्पना करनी पड़ेगी और यदि ऐसा है तो पूर्व–जड़ (जड़ से पूर्व जड़) की उत्पत्ति की नहीं। यदि हम जड़ तत्व की उत्पत्ति की परिकल्पना कर ले तों हमें जड़ से पूर्व किसी और पदार्थ की कल्पना करनी पड़ेगी और यदि ऐसा है तो पूर्व जड़ की उत्पत्ति के लिए पूर्व–पूर्व जड़ की परिकल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। अतः दर्शन की स्थिति विज्ञान से भिन्न नहीं है। जिस भी बिन्दु से हम सृष्टि का प्रारम्भ मानें यह आकस्मिक भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता। जहाँ नासदीय सूक्त विश्वोत्पत्ति के स्रोत के विषय में सन्देहात्मक दृष्टि रखता है लेकिन उपनिषदों का मत बिल्किुल निश्चित है। उपनिषदों के अनुसार जगत् का स्रोत ब्रह्म है। उपनिषदों में बिल्कुल निश्चित रूप से ब्रह्म को स्रोत के रूप में स्वीकार किया गया है। जिस ढंग से उपनिषदों में 'ब्रह्म' का वर्णन किया गया है उससे उसके मत की पुष्टि हो जाती है।

अगला मन्त्र ब्रह्म के गुणों का वर्णन करता है। यह मनोमय (आध्यात्मिक) है, प्राण शरीर (चैतन्य) वाला है, भारूप (भा= प्रकाश) है, सत्यसंकल्प है, आकाश की आत्मा (आकाशरूपा) है सभी कर्मों को करने वाला (सर्वकर्मा) है, सर्वकाम है, सर्वगन्ध (सभी सुगन्धों का आश्रय) है, सबको आच्छादित करने वाला (सर्वम् इदम अभ्यत्ता) है, मौन (अवाक्य) है तथा अनादर है। ध्यान देने वाली बात यह है कि ये सभी गुण मानवीय हैं। ब्रह्म को मनोमय इसलिए कहा गया है क्योंकि मनन के कारण ही कोई वस्तु ध्यान में आती है। ब्रह्म को चैतन्य कहने से उपनिषद् के लिये अन्य गुणों का समावेश करना सम्भव हो जाता है। ब्रह्म को प्रकाश भी कहा गया है। ब्रह्म ज्ञान में ज्ञान है इसलिए यह 'पर' भी है। यहाँ पर ब्रह्म को भावात्मक गुणों के आश्रय के रूप में लिया गया है। लेकिन इतने मानवीय गुणों के होने के बाद भी ब्रह्म निराकार है क्योंकि यह आकाशात्मा है। इसी से यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्म अव्यक्तित्ववान है। ब्रह्म को वाक् रहित बताने का अर्थ यह है कि ब्रह्म मौन है। एक विलुप्त उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा शान्त है, उप शान्तोऽयम् आत्मा। इसी को लेकर एक ऑस्ट्रियन कहावत है जिसमें यह कहा गया है कि 'वाणी चाँदी है, लेकिन मौन सोना है।' लेकिन यहाँ पर विरोधाभास यह है कि जहाँ ब्रह्म को अनादर (शान्त) कहा गया है वहीं पर ब्रह्म का एक अर्थ 'प्रार्थना' भी है जिसमें ब्रह्म स्वयं को वाक् के माध्यम से व्यक्त करता है। सबसे महत्वपूर्ण है कि ब्रह्म सबको आच्छादित किये हुए है। यदि इस विशेष गुण का परिमाणिकरण किया जाये तो ब्रह्म को सर्वव्यापक होना ही होगा। गुणात्मक दृष्टि से कारण और कार्य में भेद नहीं होता। इसी प्रकार परिमाणात्मक दृष्टि से कारण को कम से कम कार्य के बराबर होना चाहिए क्योंकि 'कम' से 'अधिक' को नहीं निकाला जा सकता है। 'ऊष्मागतिकी' का द्वितीय नियम यह कहता है कि उर्जा ऊँचे तापक्रम से नीचे तापक्रम पर प्रवाहित होती है। यदि इसको ब्रह्म के सन्दर्भ में देखा जाए तो यह कहना पड़ेगा कि ब्रह्मजगत् से अधिक है। इसे पुरुष सूक्त से भी बल मिलता है। जहाँ यह कहा गया है कि 'सभूमिं विश्वतो वृत्त्या अष्टतिष्ठस्य दशांङ्गुलम्' अर्थात् ब्रह्म जगत् से दस अंगुल बाहर है। इस उपनिषद् में पुरुष शब्द को ब्रह्म शब्द से स्थानान्तरित कर दिया गया है। बाकि ब्रह्म जगत् को लेकर परिणाम वही है जो पुरुष सूक्त में है।

यदि ब्रह्म शब्द का व्युत्पत्ति की दृष्टि से अर्थ करें तो इसका अर्थ है 'जो बढ़ता है।' इस दृष्टि से ब्रह्म को ऊर्जा कहा जा सकता है। इस जगत् में दो प्रकार की ऊर्जा व्याप्त है। एक स्थूल ऊर्जा (ब्रह्माण्डीय ऊर्जा) तथा दूसरी सूक्ष्म ऊर्जा (नाभिकीय ऊर्जा) सूक्ष्म ऊर्जा विज्ञान की नाभिकीय ऊर्जा के सादृश्य है। एक अर्थ में सूक्ष्म ऊर्जा आन्तरिक है जबकि स्थूल ऊर्जा बाह्य है। लेकिन ऊर्जा का स्वरूप एक ही है। जब ब्रह्म को आत्मा के रूप में अणु स्वरूप वाला माना गया है तो ब्रह्म नाभिकीय ऊर्जा के सादृश्य है लेकिन जब इसे देश में व्याप्त बताया गय है तो यह स्थूल ऊर्जा के सादृश्य है। इस प्रकार ब्रह्म और आत्मा के सम्बन्ध को वैज्ञानिक दृष्टि से समझा जा सकता है। यदि ब्रह्म को ऊर्जा का महान स्रोत मान लिया जाये तो ब्रह्म को सृष्टि के प्रारम्भ काल में अव्यक्त माना जा सकता है और यह स्थिति सांख्य की स्थिति के सदृश हो जाती है। इस दृष्टि से यदि हम तीसरे मन्त्र को देखें तो स्थिति काफी समझने लायक हो जाती है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. आकाश से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2. उपनिषद् में वर्णित ब्रह्म के कुछ गुणों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

12.4 विश्व का संभाव्य स्वरूप

तीसरे अध्याय के उन्नीसवें भाग, जिसमें यह कहा गया है कि आदित्य ही ब्रह्म है, में इन दोनों का तादात्म्य इस आधार पर स्थापित किया गया है कि सूर्य के कारण ही जगत् प्रकाशित होता है। इस मन्त्र में कहा गया है कि पहले असत् (शून्य) था और उसी से सत् की अभिव्यक्ति हुई। लेकिन इसी उपनिषद् के आगे के अध्यायों में इस मत का खण्डन करके सत् से ही सबकी उत्पत्ति बताई गयी है। उपनिषद् में इस तरह के विरोधाभास नहीं हो सकते हैं। इसलिए जहाँ असत् से सत् की उत्पत्ति बताई गयी है उसकी दूसरे प्रकार से व्याख्या करनी चाहिए। असत् को यदि हम अव्याकृत, जिसमें जगत् की संभावना निहित है, के रूप में ले तो कोई विरोधाभास उत्पन्न नहीं होता है। अव्याकृत अवस्था में नाम और रूप का भेद निहित नहीं होता है। इसी अर्थ में सबसे पहले असत् की उपस्थिति बताई गयी है। उसके बाद नाम और रूप की अभिव्यक्ति के कारण उसे सत् कहा गया है। उपनिषद् कहता है कि पहले असत् फिर सत् आया। उपनिषदानुसार, 'असत् एव इदम् अग्र आसीत् तत् सत् आसीत् तत् समभवत् तत् अण्डम्' अर्थात् यह पहले असत् था फिर सत् (उत्पन्न) हुआ। आरम्भ में यह सत् अण्डरूप था। वास्तव में, ऊपर जो व्याख्या दी गयी है यह उतनी सहायक नहीं है। यहाँ पर यह मान लिया गया है कि असत् का अर्थ नाम और रूप के भेद का अभाव है तथा सत् का अर्थ नामरूप भेद है। लेकिन पुस्तक से कुछ दूसरी ही बात झलकती है। यहाँ कहा गया है कि सत् के बाद नाम और आकार का भेद आया। प्रथम और द्वितीय मन्त्र में यह बताया गया है कि सत् ने कैसे अण्डे का आकार ग्रहण किया। इसकी गर्भावधि एक साल थी। उसके बाद इस अण्डे के सेने से पृथ्वी, द्यू आदि की उत्पत्ति हुई। तीसरे मन्त्र में यह बताया गया है कि आदित्य भी इसी अण्डे से आया। इस प्रकार विभिन्न आकारों और शरीरों के निर्माण से नाम और रूप का भेद स्पष्ट हो गया। अतः यह विशेष व्याख्या अश्व के आगे गाड़ी जोतने के समान है।

असत्–सत् समस्या के अतिरिक्त, आदित्य की उत्पत्ति की समस्या भी समस्या उत्पन्न करती है। यदि आदित्य ब्रह्म है तो यह अण्डे से कैसे उत्पन्न हो सकता है क्योंकि अण्डा असत् से आया है और यदि ब्रह्म–परिणामवाद के साथ कारण और कार्य दोनों को यथार्थ मानते हैं तथा कार्य को कारण का एक परिणाम मानते हैं तो यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्म ने स्वयं अपने आप को उत्पन्न किया। लेकिन यह कोई ज्यादा सुविधाजनक स्थिति नहीं है। स्पष्टतः यहां ब्रह्म को असत् भावना मानना पड़ेगा क्योंकि ब्रह्म असत् ब्रह्म की तरह भेद रहित है। यह संशयात्मक है कि उपनिषदों में यही मन्तव्य प्रतिपादित है।

12.5 ब्रह्म के स्वरूप में वापसी

सातवें अध्याय में ब्रह्म के स्वरूप पर पुनः विचार किया गया है। यह कहने के बाद कि ब्रह्म अवाक् (शान्त) है उपनिषद् यह कहता है कि ब्रह्म वाक् भी है। ऐसा करने के पहले ब्रह्म को 'नाम ब्रह्म' कहा गया है। केवल ब्रह्म ही नाम नहीं है, सभी वेद नाम हैं। लेकिन यह निम्न स्तर पर है। लेकिन उपनिषद् इससे आगे बढ़ता है और कहता है कि वाक् नाम से अधिक है। परन्तु जब ब्रह्म को पूर्व में शान्त बताया गया है तो वाक् ब्रह्म का बेहतर विवरण कैसे प्रस्तुत कर सकता है। यह सही है कि 'उप शान्तोयम् आत्मा' आत्म पर भी लागू होता है इसलिए आत्मा और ब्रह्म से एकत्व होने के कारण ब्रह्म को भी षान्त कहा जा सकता है। इस प्रकार जो विशेषण आत्मा के हैं वे ब्रह्म के भी हो सकते हैं और जो ब्रह्म के हैं वो आत्मा के भी हो सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सगुण ब्रह्म का वर्णन करते समय उपनिषद् में विरोधाभास दिखाई पड़ता है। इसका कारण यह हो सकता है कि बहुत सारे ऋषियों द्वारा अलग–अलग समय–समय पर अपने विचारों को उपनिषदों में जोड़ दिया गया है।

मन ब्रह्म को वाक् ब्रह्म से अधिक कहा गया है लेकिन यह समझ में नहीं आता कि उपनिषद् ने दो बार मन को ब्रह्म के साथ क्यों जोड़ा है? अन्तर केवल यह है कि जहाँ मन का कार्य केवल विचार करना था लेकिन यहीं सातवें अध्याय में इच्छा को मन का कार्य माना गया है। फिर यह मन से संकल्प हो गया। इस प्रकार उपनिषद् यह दिखाता है कि सभी बारह विशेषणों में से 'प्राण' मुख्य है। उल्लेखनीय है कि यहाँ आकाश की पुनरावृत्ति हुई है। यहाँ पर विशेषणों में से 'प्राण' मुख्य है। यहाँ पर विशेषणों की स्थिति का निर्धारण निर्भरता के सिद्धान्त पर हुआ है। सर्वप्रथम यहाँ पर हम विभिन्न विशेषणों की स्थिति का वर्णन करेंगे। संकल्प से शुरू होकर श्रृंखला इस प्रकार है: चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, अप्, तेज, स्मृ (स्मृति), आशा और प्राण। वर्तमान के अध्ययन प्रसंग में यद्यपि, इस श्रृंखला को विस्तृत रूप से जानने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर केवल अन्तिम बिन्दु को ही जान लेना पर्याप्त होगा। यह स्पष्ट है कि प्राण सबका आधार है। अतः ब्रह्म जीवन है। जैसे आत्मा जीवन है। जीवन सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है तथा इसके बाहर भी है। यह विचार ग्रीक दर्शन के समकक्ष है जहाँ सम्पूर्ण विश्व को जीवनमय माना गया है। ग्रीक दर्शन इसी दृष्टि से परिवर्तन की समस्या की व्याख्या करता है और उपनिषद् भी जाने और अनजाने में इसी दृष्टि से जीवन की उत्पत्ति की समस्या का समाधान करते हैं। इस प्रकार ब्रह्म को प्राणरूप में प्रतिष्ठित करके उपनिषद् ने ब्रह्म और आत्मा के समीकरण को अत्यन्त सबल रूप में रखा है।

12.6 उद्दालक द्वारा वैदिक सूक्तों का खण्डनः उनकी ब्रह्माण्ड विद्या

यदि हम विश्व दर्शन को आधुनिक अर्थ में लें तो उद्दालक का सिद्धान्त विश्व की संरचना और उत्पत्ति को समझने के लिए मानव इतिहास में पहला प्रयास माना जा सकता है। यह ध्यान देने योग्य है कि इस सम्बन्ध में सभी प्रारम्भिक प्रयास एकत्व की स्थापना पर ही पहुंचते हैं। यही स्थिति पाश्चात्य दर्शन में भी है। दोनों में अन्तर मात्र यह है कि पूर्व सुकरात दार्शनिक, जो पाश्चात्य दर्शन के प्रणेता हैं, जड़वादी हैं जबकि भारतीय दार्शनिक प्रत्ययवादी (आध्यात्मवादी) हैं। इन दोनों विचारधाराओं का विरोध बाद के समय में शुरू हुआ।

यदि यह ब्रह्माण्ड ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है और ब्रह्म में ही लीन हो जाएगा तो क्या यह यथार्थ जगत् नहीं होगा? यदि ऐसा है तो उद्दालक को किस प्रकार विज्ञानवादी कहा जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जगत् की उत्पत्ति और जीवन की उत्पत्ति को समझने के लिए दो भिन्न–भिन्न पद्धतियाँ हैं; परिमाणात्मक विश्लेषण और गुणात्मक विश्लेषण। किसी भी परिकल्पनात्मक विज्ञान का गुणात्मक विश्लेषण ही संभव है। लेकिन उद्दालक का विचार इसका अपवाद है।

उद्दालक का दर्शन *ऋग्वेद* के सूक्त के खण्डन से प्रारम्भ होता है। *ऋग्वेद* में कहा गया हैय 'देवानां पूर्वे युगे असतः सत् अजायतः' अर्थात् देवताओं के पैदा होने के पूर्व असत् से ही सत् उत्पन्न हुआ। इसके अतिरिक्त इस प्रकरण में नासदीय सूक्त का भी उल्लेख किया जा सकता है जो यह कहता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'न सत् था न असत् था।' उद्दालक ऋग्वेद के इन दोनों कथनों के विपक्ष में तर्क देते हैं और प्रश्न करते हैं कि (कथम् असत् सत् जायतः) असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? *ऋग्वेद* के अनुसार, सत् के अभाव से असत् की उपस्थिति सिद्ध नहीं होती है। यहाँ तक यह सूक्त सत्य हैं लेकिन जब दोनों सत् और असत् नहीं थे तब (तत् एकम्) यह अकेला ही कैसे प्राण क्रिया कर रहा था? इस समस्या से छुटकारा पाने के लिए उद्दालक ने दोनों सूक्तों का विरोध किया। केवल वस्तुओं की उत्पत्ति के पूर्व मात्र 'सत्' था तथा अन्य कुछ भी नहीं था। 'एकेमेव अद्वितीयम्' का यही अर्थ है। यह सत् ही ब्रह्म है। परन्तु तब जगत् की उत्पत्ति कैसे सम्भव हुई? यदि हम यह कल्पना कर लें कि यहाँ चेतना है जहाँ क्रिया है, तब हम यह कह सकते हैं कि ब्रह्म ही समस्त क्रियाओं का आधार है क्योंकि ब्रह्म चैतन्य है। ब्रह्म की यह क्रियाशीलता ही जगत् की उत्पत्ति के रूप में प्रस्फुटित होती है। क्रियाशीलता के प्रस्फुटन के लिये किसी बाहरी कारण की आवश्यक नहीं होती है। उद्दालक कहते हैं कि इस प्रकार यह एक ब्रह्म अनेक रूपों वाला हो गया। सर्वप्रथम तेज की उत्पत्ति हुई, फिर अप् की तथा उसके बाद अन्न की उत्पन्न हुई। उद्दालक इसकी इस प्रकार व्याख्या करते हैं– ताप से जल (पसीना) आता है अतः इसका अर्थ है कि तेज से जल उत्पन्न होता है। उद्दालक के इस कथन को अन्य उदाहरणों से भी पुष्ट किया जा सकता है। ताप से ही वर्षा होती है। यदि उद्दालक के सिद्धांत को वैज्ञानिक सिद्धांत कहा गया है तो इसका मुख्य कारण यह नहीं है कि यह क्या कहते हैं अपितु यह है कि यह ऐसा क्यों कहता हैं यह ऐसे साक्ष्य देता है जो उनके सिद्धांत को पुष्ट करते हैं। तथापि उनके साक्ष्यों को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। ये अपूर्ण तथा अप्रासंगिक भी हो सकते हैं। परन्तु यह संभावना ही उनके सिद्धांत को वैज्ञानिक बनाती है।

उद्दालक के अनुसार तेज, अप् और अन्न तीन भूत (तत्व) हैं। *तैत्तिरीय* वायु और आकाश इन दो और भूतों को जोड़ता है। जब ये भूत जन्म लेते हैं तो नाम और रूप के रूप में

जगत् का प्रसार सम्पन्न होने लगता है। जब एक अनेक हो जाता है प्रत्येक सीमित हो जाता है। जो भी सीमित होता है उसका निश्चित आकार होता है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु को पृथक् करने के लिए नाम की आवश्यकता होती है। इस प्रकार नाम और रूप से यह जगत् परिचालित है। इसी खण्ड के चौथे मन्त्र में यह भी बताया गया है कि इन भूतों का पुनः विभाजन होता है। इस प्रकार कुल नौ विभाजन हो जाते हैं। यह विभाजन उनके स्थूल स्वरूप पर भी घटित होता है। तेज में और दूसरे भूत भी होते हैं लेकिन तेज में अन्य भूतों का अंश बहुत कम होता है। यही बात अन्य भूतों के लिये भी सत्य है। अतः जिन्हें हम भूत कहते हैं यह वास्तविक अर्थ में भूत नहीं हैं क्योंकि सभी भूत अमिश्रित नहीं हैं अपितु मिश्रित हैं। यह विज्ञान सम्मत परिमाणात्मक मात्रा का भेद भूतों के गुण में भेद कर देता है। यह अपने आप में एक क्रान्तिकारी विचार है। उद्दालक रंगों को इन भूतों से जोड़ते हैं। यह लोहित को तेज के साथ, श्वेत को जल के साथ और काले को पृथ्वी के साथ सम्बन्धित करते हैं। यही सम्बन्धात्मक विचार आगे चलकर द्रव्य–गुण को जन्म देते हैं।

अग्रिम स्तर पर इन तीनों भेदों का अत्यन्त महत्व है। यहाँ पर मन पर विचार किया गया है। एक मन्त्र में कहा गया है कि मन की उत्पत्ति अन्न के (ठोस) के सूक्ष्म भाग से हुई है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मन गुणात्मक रूप से अन्न (भौतिक पदार्थ) से भिन्न नहीं है। मन शायद पदार्थ का सूक्ष्म रूप है। इस प्रकार मन के जड़ से सम्बन्ध की व्याख्या दो तरह से की जा सकती है। प्रथमतः मन के किसी भी आयाम को हम जड़तत्व के आधार पर समझ सकते हैं। इसे उपजड़वाद कहा जाता है जो आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का एक सिद्धांत है। अब केवल मन की ही नहीं वरन् प्राण की भी जड़ से उत्पत्ति हुई। 'आपम्... पीय मानानां य अणिमा स उर्ध्वः समुदीषति स प्राणोभवति (6.6.3)' अर्थात् जब हम जल ग्रहण करते हैं तो उसका सूक्ष्म भाग ऊपर उठकर प्राण बन जाता है। मन और प्राण दोनों का उत्पत्ति स्थान जड़त्व है। यदि इसका यह निष्कर्ष है तो यह भारतीय दर्शन (औपनिषदिक दर्शन) की मूल भावना से विपरीत है। सम्भवतः इस परिस्थिति को संभालते हुए उद्दालक कहते हैं कि केवल ब्रह्म ही देवता नहीं है अपितु तेज, अप् और अन्न भी देवता है। अब, उपनिषद् के देवता वैदिक देवताओं की तरह भौतिक न होकर आध्यात्मिक हैं यदि ऐसा है तब जो भी अस्तित्ववान है वह आध्यात्मिक ही होगा। उद्दालक ने इसी रास्ते का चयन किया है क्योंकि इसी रास्ते के माध्यम से 'सर्वं खलु इदं ब्रह्मम्' के सिद्धांत की प्रतिष्ठा हो सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्दालक ने मन और प्राण की संरचना को समझने का अद्भुत प्रयास किया है। वार्डर ने तो इसे एक अद्भुत प्रयोग माना है। *बृहदारण्यक* के अनुसार प्रजापति के 16 आयाम हैं। जिसमें से 15 आयाम मन के हैं तथा एक आयाम प्राण का है। मन जटिल है तथा इसके अनेक आयाम हैं। इसी तथ्य को समझने के लिए उद्दालक ने अपने पुत्र से पन्द्रह दिन उपवास करने को कहा। परिणामस्वरूप उसकी स्मृति का लोप हो गया। वह कुछ भी याद करने योग्य नहीं रहा। इससे यह सिद्ध होता है कि स्मृति जो मन का व्यापार है अन्न से उद्भूत है। इसे वार्डर ने परिणामात्मक विश्लेषण का उदाहरण माना है क्योंकि इसमें अनुपात और संयोजन का प्रयोग किया गया है और इसे संज्ञा के बिना नहीं समझा जा सकता।

क्या जो कुछ भी अस्तित्वान है उसको आध्यात्मिक मानने में कठिनाई है? यदि मन और प्राण के सोलह आयाम हैं तो आत्मा (चैतन्य) के भी सोलह आयाम होने चाहिए। परन्तु जो भौतिक नहीं है उसके इतने विभिन्न आयाम कैसे हैं? दूसरे, यदि मन और प्राण अध्यात्मिक हैं तो क्या हड्डी और मांस को भी आध्यात्मिक कहा जा सकता है? ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। लेकिन उद्दालक इस प्रश्न पर चुप हैं।

उद्दालक के स्पष्टीकरण में 'तत् त्वम् असि' यानि कि तुम वही आत्मा हो जो अत्यन्त सूक्ष्म है तथा जगत् का आदि स्रोत है का सात बार प्रयोग हुआ है। दूसरे शब्दों में समस्त विश्व के साथ मेरा तादात्म्य है। यह कैसे संभव है? उद्दालक दो उदाहरणों से इसे स्पष्ट करते हैं, यथा विभिन्न नदियाँ विभिन्न दिशाओं में पहती हुई (एक) समुद्र में मिलती है और भिन्न–भिन्न फूलों के रस से (एक) मधु तैयार होता हैं। यहाँ हमें भारतीय दर्शन की एक प्रमुख विशेषता प्राप्त होती है। यह आत्मन्, ब्रह्म का तादात्म्य ही *छान्दोग्य उपनिषद्* की शिक्षा का मुख्य सार है। यह वास्तव में एक मनःस्थिति है। जो हमें बुद्धि और अनुभव के परे ले जाती है।

अब, जीवन की उत्पत्ति के विषय पर एक सरसरी दृष्टि से देखना भर ही हमारे लिये पर्याप्त होगा। उद्दालक तीन प्रकार के जीवन की उत्पत्ति देखते हैं; अण्डे से, जीव से, और बीज से। ऐतरेय ने स्वेदज नाम से एक अन्य प्रकार और जोड़ा है। वस्तुतः यही जीवों के विभाजन की पुरातन जीव वैज्ञानिक विधि रही है।

छठवें अध्याय के प्रारम्भ में उद्दालक एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं। वह कहते हैं कि कार्य केवल नाम है। परन्तु कारण ही मूल तथा यथार्थ है। उदाहरणार्थ, माला कार्य है जबकि सोना (स्वर्ण) उसका कारण है। ब्रह्म इस जगत् का द्रव्यात्मक कारण है, जगत् कार्य है। सोने की माला के उदाहरण में निमित्त कारण सुनार है लेकिन जगत् के उदाहरण में ब्रह्म जगत् का द्रव्यात्मक कारण और निमित्त कारण दोनों है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ब्रह्मपरिणामवाद कारणता को समझने का प्रथम प्रयास है। एक अन्य उल्लेखनीय सिद्धांत, उद्दालक का सामान्यीकरण का सिद्धांत है। जिसके अनुसार, यदि हम लोहे से बनी किसी एक वस्तु के गुणों को जानते हैं तो हम स्वयं ही लोहे से बनी अन्य दूसरी सभी वस्तुओं के गुणों को भी जान जाते हैं यह तर्कशास्त्र का एक महत्वपूर्ण विषय है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. छान्दोग्य उपनिषद् के इस कथन को कैसे समझायेंगे कि प्रारम्भ में असत् था?

.....

.....

.....

.....

.....

2. उद्दालक के अनुसार तत्वमसि का क्या अर्थ है?

.....

.....

.....

.....

.....

12.7 स्वपिति का अर्थ और स्वप्नावस्था के साथ इसका सम्बन्ध

सर्वप्रथम दो बातों का स्पष्ट होना अति आवश्यक है। एक है स्वपिति और दूसरी स्वप्न अवस्था। उद्दालक के अनुसार स्वपिति का अर्थ व्यक्ति का अपने वास्तविक स्वरूप से जुड़ना है। व्यक्ति का यथार्थ स्वरूप सत् से सम्बन्धित है। व्यक्ति का सत् से सम्बन्ध तभी सम्भव है जब सत् मन के साथ सम्बन्धित हो। सत् के स्थान पर हम आत्मा का भी ग्रहण कर सकते हैं। इसका अर्थ है कि व्यावहारिक धरातल पर इन्द्रियों का व्यापार जैसे खाना, सुनना, देखना आदि आत्मा के साथ सम्बन्ध होने पर ही सम्भव होता है। सत् का यथार्थ स्वरूप गुप्त है। इसी कारण बन्धन होता है। मुक्ति इस सम्बन्ध से छुटकारा है। दूसरे शब्दों में स्वपिति का अर्थ सत् का मन से अलगाव होना है। सुषुप्ति को समझने से स्वपिति का अर्थ और अधिक स्पष्ट हो जाता है। उपनिषद् में स्वपिति का प्रयोग न करके स्वप्नान्तम् (स्वप्न अवस्था का अन्त) शब्द का प्रयोग किया गया है। असम्बद्धता की प्रक्रिया को समझने के लिए मन की विभिन्न अवस्थाओं को समझना आवश्यक है। जाग्रत् अवस्था में केवल स्नायुतन्त्र ही क्रियाशील नहीं रहता है अपितु व्यक्ति भी उसके सम्बन्ध में चैतन्य रहता है। अतः जाग्रत् अवस्था स्वसंवित की अवस्था है। यहाँ मन के साथ पूर्ण सम्बन्ध रहता है। स्वप्नावस्था में एक भेद है। दूसरे, यद्यपि स्वप्नावस्था में भी कर्मेन्द्रियों का व्यापार रहता है, फिर भी दोनों में बड़े गुणात्मक अन्तर हैं। इसका अर्थ है कि स्नायुतन्त्र क्रियाशील तो रहता है, लेकिन क्रियाशीलता की मात्रा कम रहती है। इसलिए स्वप्नावस्था में भी सत् आनुभाविक धरातल पर रहता है। स्वप्नावस्था का एक छोर जाग्रत् अवस्था है तथा दूसरा छोर सुषुप्ति अवस्था है। जाग्रत् अवस्था जगत् से पूर्णतः सम्बन्धित अवस्थ है जबकि सुषुप्त अवस्था पूर्ण रूप से बाह्यजगत् से सम्बन्धित अवस्था है। सुषुप्ति में ही हम बाह्य जगत् से छुटकारा पाते हैं लेकिन यह अवस्था क्षणिक होती है। लेकिन जब सत् बाह्य जगत् से पूर्णतः असम्बन्धित हो जाता है तो उसे नित्यता का बोध होता है। इस अर्थ में सत् को आत्मा कहा गया है जो ब्रह्म भी है।

स्वपिति को हम एक दूसरे साधारण तरीके से ऐसे समझ सकते हैं कि यह स्वरूप (व्यक्ति का अपना वास्तविक रूप) है। जब सत् (अहम्) अपने सत् रूप को प्राप्त कर लेता है तो यह शुभ और अशुभ के परे चला जाता है क्योंकि शुभ और अशुभ इस जगत् के अन्तर्गत् हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सत् का मनस के साथ सम्बन्ध और मन का जगत् के साथ सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है अपितु आगन्तुक है। उपनिषद् का मुख्य उद्देश्य इस बन्धन से छुटकारा पाना है। तथा *उपनिषद्* में वर्णित सभी बौद्धिक क्रियाओं का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है। अतः उपनिषदों की साधना बौद्धिक है लेकिन लक्ष्य बौद्धिक नहीं है। यही उपनिषद् का वास्तविक स्वरूप है।

12.8 सत् के बन्धन

इसके पूर्व के खण्ड में बन्धन और मोक्ष का उल्लेख किया गया है। मोक्ष को समझने के लिए बन्धन को अच्छी तरह समझना आवश्यक है। उद्दालक के अनुसार छः ऐसे स्थान (षडायतन) हैं जहाँ बन्धन होता है। बन्धन की परम्परा को समझना आसान है। मन प्राण से बंध जाता है, प्राण अन्न से, अन्न जल से और जल तेज से। सत् मन के द्वारा इन सभी से सम्बन्धित हो जाता है। यदि सत् मन के साथ अपने सम्बन्ध को समाप्त

कर दे तो बन्धन की श्रृंखला समाप्त हो जाती है। उद्दालक यह बताते हैं कि एक तत्व दूसरे तत्व को कैसे बाँधता है। यह अत्यन्त रूचिकर है। अन्न जीवन के लिए आवश्यक है। अतः प्राण अन्न पर निर्भर है। केवल भोजन करना ही पर्याप्त नहीं है। इसका द्रव में परिवर्तन तथा इस (पाचक रस) के साथ मिश्रण होना भी आवश्यक है तभी पाचन क्रिया सम्पन्न होती है। उद्दालक स्पष्ट रूप से यहाँ पाचन क्रिया का उल्लेख कर रहे हैं। भोजन को ऊर्जा में बदलने के लिए जल की आवश्यकता है। इसलिए भोजन जल पर निर्भर है। और यह प्रक्रिया आन्तरिक जठराग्नि के बिना नहीं हो सकती। यह जठराग्नि, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से तेज या अग्नि के ही समान है। एक दूसरे प्रकार से भी बन्धन को समझा जा सकता है। सत् तेज का स्रोत है, तेज अप् का और इसी प्रकार एक श्रृंखला बनती है। सत् सबका आधार है, लेकिन यह स्वयं किसी पर निर्भर नहीं रहता है। बन्धन से मुक्ति का अर्थ मृत्यु नहीं है। मुक्ति की अवस्था मृत्यु से भिन्न है। क्योंकि सत् का जब बन्धन से छुटकारा होता है तो यह मन से असम्बन्धित होता है। परन्तु यह एक पक्ष है क्योंकि अभी भी मन और प्राण का सत् के साथ सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है। मृत्यु के बाद मन का प्राण में, प्राण का तेज में और तेज का सत् में लय हो जाता है। और तब यह सत् शुद्ध सत् है।

12.9 आत्म और जगत् का स्रोतः ब्रह्म

उद्दालक ने सत् को बताने के लिये आत्मा को विश्व के सूक्ष्म सार के साथ सम्बन्धित किया है। उद्दालक ने इस सम्बन्ध को तत्वमसि (तुम यही हो) महावाक्य से प्रदर्शित किया है। इसे स्पष्ट करने के लिये यह एक साम्यानुमान प्रस्तुत करते हैं। जब मधुमक्खी इस (शहद) को विभिन्न स्रोतों से ले आती है तो उसमें स्रोत सम्बन्धी भेद नहीं रहता है यह एक ही हो जाता है। लेकिन उनका (स्रोतों का) अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। इसलिए तादात्म्य और अस्तित्व एक ही नहीं हैं। आत्म साक्षात्कार सत् के साथ तादात्म्य है। एक स्थान की हानि दूसरे स्थान के लाभ से पुष्ट होती है।

उद्दालक के द्वारा प्रस्तुत एक दूसरे साम्यानुमान में यह दिखाया गया है कि विभिन्न नदियाँ समुद्र में प्रविष्ट होकर समुद्र का एक अंश हो जाती हैं। समुद्र में एक नदी के जल को दूसरे नदी के जल से भिन्न करना असंभव है। नदियों की स्वतन्त्र पहचान समाप्त हो जाती है क्योंकि ये समुद्र के साथ एक हो जाती हैं और उनकी सत्ता अब समुद्र के रूप में रहती है।

इस प्रकार उद्दालक ने अपने संवाद में अनेक उदाहरणों का प्रयोग किया है। उन सबका उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। उन सबका सारांश यह है कि अज्ञान ही भेद का जनक है। ज्ञान प्राप्ति के लिए तीन शर्तें आवश्यक हैं, उचित शिक्षा, योग्यता और शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा। इसके बिना लक्ष्य की प्राप्ति नहीं की जा सकती है। ज्ञान की प्राप्ति ही मोक्ष है। सत्य मुक्ति का द्वार है तथा असत् बन्धन की गुफा। ज्ञान का अर्थ है सत्य की पहचान।

12.10 परा विद्या (भूमाविद्या)

ज्ञान और सत्य की चर्चा हमें भूमाविद्या तक पहुँचाती है जिसका विस्तृत विवरण सातवें अध्याय में है। उपनिषद् कहता है कि ज्ञान के ही कारण कोई सत्य कहता है और ज्ञान नहीं है तो सत्य भी नहीं है। प्रश्न है कि ज्ञान कैसे होता है? किस प्रकार ज्ञान प्राप्त होता

है? ज्ञान के लिए मति की आवश्यकता है और मति के लिए श्रद्धा की और श्रद्धा से निष्ठा और इन सबका लब्धार्थ सुख में होता है। और जो सुख की तरफ ले जाता है यही पराविद्या सर्वोच्च ज्ञान है। उपनिषद् कहता है, 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति...' जो महान् है, विस्तृत है, अनन्त है उसी में सुख है। जो अल्प है उसमें सुख नहीं है। जब हम सर्वोच्च शिखर पर पहुँचते हैं तो वहाँ द्वैत विगलित हो जाता है। ऐसी अवस्था में ज्ञाता–ज्ञेय, श्रोता–शब्द सबका अन्त हो जाता है, मात्र अद्वैत शेष रहता है। यह अपनी ही महिमा में स्थित रहता है। उसे किसी सहारे की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि यह सबका सहारा होता है। यही परमात्मा है और उसी का ज्ञान सर्वोच्च ज्ञान है। यही ऊपर है यही नीचे है, यही आगे यही पीछे है यही सर्वत्र है।

बोध प्रश्न 3

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. संक्षेप में 'स्यपिति' का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

12.11 सारांश

छान्दोग्य उपनिषद् अत्यन्त प्राचीन उपनिषदों में से एक हैं। यहाँ अधिकांश सम्वाद कर्मकाण्डों के विषय में हैं। यह सामवेद का अंग है। अतः इसमें उल्लेखित सभी कर्मकाण्डों का सम्बन्ध *सामवेद* से है। उपनिषद् कर्मकाण्डों के विरोधी हैं क्योंकि संक्रमण काल में लोग यह विश्वास करते थे कि कर्मकाण्ड भी ब्रह्म ज्ञान के साधन हैं। गायत्री यह मन्त्र है जिसके द्वारा ब्रह्म का ज्ञान होता है। आकाश के तीन स्तर हैं जो मन के तीन स्तरों का निरूपण करते हैं। ब्रह्म को प्रकाश के साथ भी एकरूप समझा गया है। तज्जलानिति का दार्शनिक महत्व है। विश्व दर्शन का बीज इसमें निहित है। उद्दालक का विश्वदर्शन वैदिक संहिताओं की दृष्टि का विरोधी है तथा वैज्ञानिक है। ब्रह्म को अनेक प्रकार से समझाते समय प्राण को सर्वोच्च बताया गया है। आत्मा केवल जगत् का स्रोत नहीं है अपितु मनुष्य का सार है। स्वबोध ही सर्वोच्च ज्ञान है।

12.12 कुंजी शब्द

लोकोक्ति : इसका अर्थ सूक्तियाँ हैं जिसमें हमारे पूर्वजों का ज्ञान सुरक्षित रहता है तथा जिसे परम्परा से प्रमाणित माना जाता है।

गुण : यह किसी द्रव्य की अमूर्त विशेषता है।

द्रव्य : यह गुण का आश्रय होता है। यह किसी वस्तु का मूल सिद्धांत है जिसके बिना उसका अस्तित्व असंभव होता है।

ऊष्मागतिकी : भौतिक शास्त्र की एक शाखा जिसमें ताप और उसके दबाव का अध्ययन किया जाता है।

12.13 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

दास गुप्ता, एस. एन. *हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी,* वोल्यू–1. देल्ही: मोतीलाल बनारसीदास, 1988.

राधाकृष्णन्, एस. *हिस्ट्री ऑफ फिलोसॉफी: ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न.* लन्दन: जॉर्ज एलेन एवं अनविन, 1967.

राधाकृष्णन्, एस. *इण्डियन फिलॉसोफी,* वोल्यू–1. न्यू देल्ही: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2004.

राधाकृष्णन्, एस. *द प्रिंसिपल्स उपनिषद्स.* लंदन: जार्ज एलेन एवं अनविन, 1958.

वार्डर, ए. के. *आउट लाइन्स ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* न्यू देल्ही: मोतीलाल बनारसी दास, 1971.

शर्मा, सी.डी. *ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* न्यू देल्ही: मोतीलाल बनारसी दास, 2000.

सरस्वती, एस. एव. *छान्दोग्योपनिषद्.* बेंगलोर: अध्यात्म प्रकाशनालय, 2007.

हिरियण्णा, एम. *आउटलाईन्स आफ इण्डियन फिलॉसोफी.* लंदन: जार्ज एलेन एण्ड अनविन, 1958.

हिरियण्णा, एम. *एसेन्सियल्स ऑफ इंडियन फिलॉसोफी.* लन्दन: जार्ज एलेन एण्ड अनविन, 1958.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

छान्दोग्योपनिषद्, शांकरभाष्य सहित. गोरखपुर: गीताप्रेस, विक्रम सन्वत् 2070.

12.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. आकाश जो मन का आन्तरिक अंग है उसके दो भाग हैं– शरीराकाश और हृदयाकाश। इस प्रकार आकाश के तीन भाग हो गये। ये तीनों आकाश क्रमशः मन की जाग्रत् अवस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्ति के समानान्तर है। प्रथम दो अवस्थाओं में दुःख होता है जबकि अन्तिम अवस्था दुःख के परे हैं। आकाश इन अवस्थाओं में दुःख होता है जबकि अन्तिम अवस्था दुःख के परे है। आकाश इन अवस्थाओं के साथ सम्बन्धित है तथा अनुभव के साथ भी सम्बन्धित है।

2. यह मनोमय है, प्राणमय है, भारूप (प्रकाश रूप) है, सत्य संकल्प है, आकाशात्मा है, सर्वकर्मा है, सर्वकाम है, सर्वगन्ध है, सर्वत्र व्याप्त है, अवाक्य है तथा अनादर है।

बोध प्रश्न 2

1. तीसरे अध्याय का नौंवा खण्ड कहता है कि आदित्य ही ब्रह्म है। इसमें कहा गया है कि प्रारम्भ में असत् था जिससे सत् का प्रादुर्भाव हुआ। इस मन्त्र के पहले कथन के स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। इसकी एक व्याख्या यह हो सकती है कि असत् को अव्याकृत अथवा संभावना के अर्थ में लिया जा सकता है जब जगत् अभिव्यक्ति नहीं था तब यह संभावित था। वहाँ नामरूप का भेद नहीं था इसी रूप में यह असत् था।

2. तत्वमसि उद्दालक के स्पष्टीकरण में सात बार आया है। इसका अर्थ है कि यह जो सूक्ष्म और सत् है वही सत्य है और यह आत्मा है तथा जगत् के स्रोत के साथ एकरूप है। दूसरे शब्दों में जगत् और ब्रह्म के ऐक्य को अनुभव करना चाहिए।

बोध प्रश्न 3

1. उद्दालक 'स्वपिति' को सत् के साथ सम्बन्धित मानते हैं तथा इसे व्यक्ति की यथार्थ प्रकृति के साथ सम्बन्धित करते हैं। यह सत् का व्यक्ति के साथ सम्बन्ध इसलिए सम्भव होता है कि सत् मन के साथ सम्बन्धित है। 'स्वपिति' का अनुभव तभी होता है जब सत् मन से सम्बन्ध हटा लेता है। 'स्वपिति' को ठीक से समझने के लिए सुषुप्ति को समझना आवश्यक है। उपनिषद् इस शब्द का प्रयोग नहीं करता है अपितु इसके स्थान पर यह 'स्वप्नान्तम्' शब्द का प्रयोग करता है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 13 बृहदारण्यक उपनिषद्[13]

रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 परिचय

13.2 अवलोकन

13.3 केन्द्रिय समस्या पर विचार

13.4 दार्शनिक प्रतिउत्तर

13.5 सारांश

13.6 कुंजी शब्द

13.7 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

13.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम *बृहदारण्यक* के सार विषय को जानने में समर्थ होंगे। सार–विषय इस प्रकार है–

- अश्वमेध यज्ञ का महत्व तथा जगत् की उत्पत्ति
- 'प्राण' (जीवन) का अर्थ
- प्राण शक्ति का महत्व
- सद्गुण की विषय–वस्तु
- परब्रह्म की महानता
- सत्योपलब्धि के लिए दिशा तथा परब्रह्म

13.1 परिचय

बृहदारण्यक का शाब्दिक अर्थ है: बृहद् अरण्य शिक्षा। यह उपनिषदों में एक महत्वपूर्ण एवं पुराना उपनिषद् है। यह *शतपथ ब्राह्मण* का अंग है। यह ब्रह्म को सर्वव्यापी निरपेक्ष, स्वप्रकाश तथा आनन्दमय रूप में देखता है तथा आत्मा के रूप में इसकी उपलब्धि की घोषणा करता है। यह *उपनिषद्* अपने दार्शनिक सूत्रों के लिए विख्यात है। पूरा *उपनिषद्* गद्यमय है कहीं–कहीं कुछ पद्य हैं। यह छः अध्यायों में विभक्त है। इन अध्यायों को पुनः

[13] डॉ. परिमल जी भट्ट, आंजनेय महाविद्यालय, बैंगलोर, अनुवाद– श्री प्रवेश कुमार, दिल्ली

सैंतालीस भागों में विभक्त किया गया है जिन्हें ब्राह्मण कहते हैं। ब्राह्मण पुनः कण्डिका में विभक्त हैं। तीन मुख्य काण्ड हैं– मधुकाण्ड, जो व्यक्ति और सार्वभौम आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन करता है। मुनिकाण्ड या याज्ञवल्क्य काण्ड, जो अपनी दार्शनिक शिक्षा के लिए जाना जाता है तथा खिल काण्ड जो कुछ उपासना तथा ध्यान की विधियों की चर्चा करता है। इस उपनिषद् का उद्देश्य आत्मा का प्रतिपादन करना तथा आत्मा और ब्रह्म की एकता को भी प्रदर्शित करना है।

13.2 अवलोकन

उपनिषद् के प्रथम अध्याय में अश्वमेध यज्ञ और सृष्टि पर प्रकाश डाला गया है। इसे मधुकाण्ड कहा गया है। उपनिषद् का प्रारम्भ यज्ञीय अश्व के वर्णन से होता है। अश्व के प्रत्येक अंग को दैवीय बताया गया है तथा उपनिषद् के अनुसार अश्व का ध्यान प्रजापति या हिरण्यगर्भ के रूप में करना चाहिए। यहाँ पर अश्वीय ध्यान को अश्वमेध यज्ञ के तुल्य बताया गया है।

प्राण शक्ति की सर्व शक्तिमानता को एक नीति कथा के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है। देवताओं ने विभिन्न इन्द्रियों से अपने लिए गान करने को कहा। एक राक्षस ने सभी इन्द्रियों में दोष उत्पन्न कर दिया। लेकिन वह प्राणशक्ति को परास्त न कर सका। प्राण शक्ति की सहायता से ही अन्य इन्द्रियां दोषों से मुक्त हो पाई तथा देवताओं का गान किया। देवताओं ने पुरस्कार के रूप में प्राण को भोजन दिया और सभी इन्द्रियों ने प्राण का अंग होना स्वीकार किया। स्रष्टा ने जगत् और भोजन दोनों की रचना की। सात प्रकार के भोजनों का सृजन किया। एक प्रकार का आधारभूत भोजन शरीरधारियों के लिए, दो भोजन देवताओं के लिए। एक भोजन जानवरों के दुग्ध हेतु। उसने तीन भोजन अपने लिए रख लिये।

दूसरे से लेकर चौथे अध्याय तक को मुनिकाण्ड या याज्ञवल्क्यकाण्ड कहते हैं। दूसरे अध्याय का प्रारम्भ अजातशत्रु और गंग के सम्वाद से होता है। अजातशत्रु आत्मा के विषय में चर्चा करता है तथा उसकी तीन अवस्थाओं– जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के विषय में बताता है।

याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी के आत्मा के विषय में उठाये गये प्रश्नों के उत्तर तथा शिक्षा प्रदान करते हैं। साथ ही याज्ञवल्क्य ने जनक के दरबार में विद्वानों और राजा जनक के प्रश्नों का भी समाधान किया है। याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से आत्म–ज्ञान की चर्चा करते हैं। यो कहते हैं कि आत्मा को देखना चाहिए, सुनना चाहिए, मनन करना चाहिए तथा उसका ध्यान करना चाहिए। सबकुछ आत्मा से ही ओत–प्रोत है तथा देवता भी इस आत्मा से ओत–प्रोत हैं। जिस प्रकार सभी प्रकार के धूम, धूम वाले ईंधन से निकलते हैं। उसी प्रकार सभी प्रकार के वेदादि भी आत्मा से निकले हुए हैं।

राजा जनक ने एक यज्ञ किया और उपस्थित ब्राह्मणों में से सबसे विद्वान ब्राह्मण को सोने से मढ़ी सींग वाली एक हजार गायें दान में देने की घोषणा की। याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों को गायों को अपने आश्रम में ले चलने को कहा तब सभी ब्राह्मणों ने मिलकर याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ किया और याज्ञवल्क्य ने सभी के प्रश्नों के समुचित उत्तर दिये।

एक विद्वान ने प्रश्न पूछा–आत्मा के लिए सबसे प्रत्यक्ष क्या है? उन्होंने उत्तर दिया– प्राण, अपान, व्यान तथा उदान। उन्होंने पुनः स्पष्ट किया कि प्रत्येक शरीर में आत्मा सूर्य की

तरह प्रकाशित है जो श्रोता है, मन्ता है और ज्ञाता है। लेकिन उसे बाह्य वस्तुओं की तरह नहीं जाना जा सकता। उनके अनुसार इसमें भौतिक और मनोवैज्ञानिक वर्ग होते हैं, जो इसको समझता है यह वैसा ही हो जाता है। आत्मोपलब्धि के बाद इस ज्ञान का नाश नहीं होता है। जब यह प्रश्न पूछा गया कि क्या ये इससे परिचित हैं तथा इससे सम्बन्धित करने वाला सूत्र कौन सा है? तब उन्होंने सकारात्मक उत्तर दिया और कहा कि इसका स्रोत 'वायु' है। उन्होने यह स्पष्ट किया कि यह सभी शरीरों में व्याप्त है लेकिन सभी लोग इससे परिचित नहीं हैं। इसका अपना शरीर नहीं होता है। लेकिन उसकी उपस्थिति शरीर और इन्द्रियों का कारण है। उन्होंने विस्तारपूर्वक अन्तर्यामी की महत्ता बताई–

"अदृष्टो दृष्टा, अश्रुतो श्रोता, अमतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता...एस त आत्मन्तर्याम्य अमृतः अतोऽन्याद् अर्तम् (3.8.1)

उन्होंने कहा है कि यह अक्षर है और उसका राज्य अमर है। जब उनसे यह प्रश्न पूछा गया कि दिशा से ऊपर तथा पृथ्वी के नीचे तथा द्युलोक और पृथ्वीलोक के मध्य में क्या है? तो उन्होंने उत्तर दिया यह आकाश है।

जब अन्य विद्वानों ने अपने प्रश्न समाप्त कर लिए तो याज्ञवल्क्य ने उन विद्वानों से प्रश्न पूछा कि जब वृक्ष को काट दिया जाता है तो यह पुनः उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य मृत्यु के बाद किस कारण से पुनः उत्पन्न हो जाता है? कोई भी विद्वान इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका। याज्ञवल्क्य के अनुसार यह सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है जिसके कारण मृत्यु के बाद भी मानव जीवित रहता है।

याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को परब्रह्म की शिक्षा दी। उन्होंने उन्हें बताया कि प्राणशक्ति को समझने से ब्रह्म को समझना आसान हो जाता है। ब्रह्म, स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में वैश्यानर, तैजस, और प्राज्ञ के रूप में स्थित रहता है। उन्होंने इसी खण्ड में इसकी विस्तृत व्याख्या की।

पाँचवें अध्याय से खिल काण्ड प्रारम्भ होता है। खिल का अर्थ पूरक है। शंकराचार्य ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्रह्म, जो सभी उपनिषदों का विषय है, जो अनन्त है, को अन्तिम चार अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है।

"पूर्णमदः..." मन्त्र की व्याख्या करते हुए कुछ लोग मानते हैं कि अनन्त (जगत्) अनन्त (ब्रह्म) से उत्पन्न हुआ। द्वैतात्मक जगत् भी अनन्त है अर्थात् पूर्ण ब्रह्म है। पाँचवें अध्याय में इस प्रकार के ध्यानों का वर्णन है जो समृद्धि तथा क्रमशः मुक्ति की ओर ले जाते हैं:–

"तद् एतद् एवैसा दैवि वाग् अनुवदति स्तनयित्नुः– द, द, द, इति दम्यता, दाता, दयाध्वम् इति। तद् एतद् त्रयम् शिक्षेत्, दमन, दानम्, दयाम् इति।" (5.2.3)।

यहाँ पर एक आख्यायिका है किस प्रकार मनुष्यों ने प्रजापति द्वारा दिये गये एक अक्षर 'द' को समझा। प्रजापति दे देवता, मानव, राक्षस तीनों को शिक्षा दी। उन्होंने अन्त में केवल 'द' अक्षर कहा और उनसे पूछा कि उन्होंने किस अर्थ में लिया। देवताओं ने कहा कि ये 'द' का अर्थ 'दम' से लेते हैं। मनुष्यों ने कहा कि ये 'द' का अर्थ 'दान' से लेते हैं और राक्षसों ने कहा कि ये 'द' का अर्थ 'दया' से लेते हैं। उन्होंने यहाँ पर दैवीय वाणी सुनी 'द' द द' – जिसका अर्थ था – दान, दया, दम।

इसका तीसरा खण्ड अत्यन्त महत्वपूर्ण है इसमें प्रजापति ने यह बताया है कि हृदय में तीन अक्षर है– ह्र, द, य। यदि कोई इन तीनों अक्षरों पर ध्यान करता है तो इन तीनों पर ध्यान करने से क्रमशः यह भोग, शक्ति तथा स्वर्ग लोक की प्राप्ति करता है।

सम्पूर्ण पंचम ब्राह्मण ध्यान और इसके प्रभावों की चर्चा करता है। यहाँ पर ध्यान के लिए सत्य, सूर्य, मन, विद्युत, वाक् (वेदों) को 'धेनु' के रूप में तथा वैश्वानर का ध्यान करने को कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि ध्यान के लिए एक निश्चित विषय होना चाहिए। एक ही समय में एक से ज्यादा वस्तुओं पर ध्यान करने से फल नहीं मिलता है। ध्यान का अर्थ है किसी एक विषय पर नियमित रूप से क्रमशः निरन्तर ध्यान करना। ध्यान का मुख्य लक्ष्य ज्ञान प्राप्त करना है। उपनिषद् में इस विषय पर भी विस्तृत चर्चा है कि किस प्रकार से मनुष्य रोग, मृत्यु और मरण क्रिया का सामना करे। उपनिषद् कहता है कि कुछ लोग इन्हें भयावह दृष्टि से देखते हैं।

प्राण की महिमा अनेक खण्डों में की गयी है। इसके विषय में अनेक आख्यान भी हैं। प्राण पर विभिन्न नामों के द्वारा ध्यान करने की चर्चा भी की गयी है प्राण को उक्थ के रूप में समझना चाहिए तथा ध्यान करना चाहिए क्योंकि यह सम्पूर्ण विश्व को धारण करता है। जो इस प्रकार से ध्यान करता है यह ऐसे पुत्र की प्राप्ति करता है, जो इस प्राण शक्ति को जानता है। यदि हम उक्थ को यजुः के रूप में ध्यान करते हैं तो हम उसी लोक में पहुँच जाएँगें जहाँ उक्थ रहता है, जहां सभी जीव एक दूसरे से मिलते हैं। इस प्राण शक्ति को समन के रूप में जानना होगा क्योंकि जो इसका ध्यान करता है यह उसके साथ तादात्म्य रूप को प्राप्त करता है। अन्त में, इसका क्षेत्र के रूप में ध्यान करने को कहा गया है, क्योंकि यह चोटों एवं घावों से बचाता है। जो इसे 'क्षेत्र' के रूप में जानता है उसे अन्य किसी रक्षक की आवश्यकता नहीं होती है। यह प्राण ही उसे अन्त तक बचाने में समर्थ है।

गायत्री छन्द के विषय में विस्तृत चर्चा की गयी है। गायत्री वेदों में प्रमुख छन्द है। केवल गायत्री छन्द में ही जपकार की रक्षा करने की शक्ति है। यह 'सवित्' अथवा 'सूर्य' की उपासना है। गायत्री के प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं। प्रथम पाद भूमि है, द्वितीय पाद अन्तरिक्ष है तथा तृतीय पाद द्युलोक है। द्वितीय पाद के आठ अक्षर क्रमशः ऋक्, यजुर् और साम है। तृतीय पाद के आठ अक्षर प्राण, अपान और उदान हैं। तथा चतुर्थ पाद अलौकिक है 'परोरजा' है। इसके पाद दृष्टि में आते हैं क्योंकि सूर्य नेत्रों का विषय है और सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करता है। गायत्री ज्ञान की महिमा अपरिमित है।

छठवें अध्याय का प्रारम्भ भी एक रूपक से होता है। इन्द्रियों के मध्य एक संवाद होता है। प्रत्येक इन्द्रिय कहती है कि यह सबसे पुरातन है। अन्त में ये सभी प्रजापति के पास जाती हैं। प्रजापति ने कहा कि यही इन्द्रिय श्रेष्ठ होगी जिसके अभाव में शरीर नष्ट हो जाएगा। अपनी महिमा को प्रदर्शित करने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय एक–एक साल तक शरीर के बाहर निवास करती रहीं। लेकिन शरीर यथावत् रहा। लेकिन जब प्राण ने शरीर छोड़ना प्रारम्भ किया तो सभी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने लगी तथा सभी ने अनुरोध किया कि प्राण शरीर को न छोड़ें।

"मा भगवः उत्क्रमिः, न वै शक्स्यामस् त्वद् ऋते जीवितुम् इति, तस्यो मे बलिं कुरुत्ष्वि, तथेति।" (6.1.13)

इस प्रकार सभी इन्द्रियों ने यह स्वीकार कर किया कि प्राण उनमें सबसे श्रेष्ठ हैं।

छठवें अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में एक अन्य आख्यायिका श्वेतकेतु से सम्बन्धित है जो गौतम का पुत्र और आरुणि का पौत्र है। श्वेतकेतु अपनी शिक्षा समाप्त करके पांचालों के परिषद् में जाता है। राजा ने उससे पाँच प्रश्न पुछे। जिनका उत्तर देने में श्वेतकेतु अपने को असमर्थ पाता है। राजा ने उसको अपने यहाँ ठहरने का आग्रह किया। लेकिन श्वेतकेतु शर्म के कारण राजदरबार छोड़कर अपने पिता, जो उसके गुरु भी थे, के पास जाता है और इस घटना को बताता है। पिता ने इस ज्ञान के विषय में अपने को अनभिज्ञ बाताया। लेकिन उन्होंने निश्चय किया कि यह राजा के पास जाकर इस ज्ञान को प्राप्त करेंगे। उन्होंने अपने पुत्र से भी यहाँ चलने का आग्रह किया। लेकिन पुत्र ने इंकार कर दिया। अन्त में उसके पिता पांचाल नरेश के पास जाते हैं और उनका शिष्यत्व ग्रहण करते हैं। फलस्वरूप राजा ने उन्हें पाँच प्रकार की अग्नियों की शिक्षा दी। लोकाग्नि, पर्जन्य अग्नि, पुरुष अग्नि, योगअग्नि, द्यूलोकाग्नि। राजा ने पुनः कहा कि जो कोई भी गृहस्थ या सन्यासी, इन पाँच अग्नियों को जानता है, यह ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. वैश्यिक यज्ञीय अश्व किसका प्रतीक है?

.....

.....

.....

.....

.....

2. संक्षेप में यह बताइए कि याज्ञवल्क्य कैसे एक देवता का बहुदेवता से भेद करते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

13.3 केन्द्रिय समस्या पर विचार

प्रथम अध्याय कर्मकाण्डीय है। वैदिक काल में अश्वमेध यज्ञ को एक महान यज्ञ के रूप में देखा जाता था तथा इसको सम्पादित करने वाला ब्रह्मलोक की प्राप्ति करता था।

उपनिषद् में यज्ञीय अश्व का प्रतीकात्मक वर्णन है। इस वैश्यिक अश्व के वर्णन में मनोवैज्ञानिक घटक सम्मिलित हैं। यहाँ दिखाया गया है कि किस प्रकार अश्व के शरीर के अंग, जगत् के विभिन्न तथ्यों का निरूपण करते हैं। आदि शंकराचार्य के अनुसार केवल इस अश्व के ध्यान मात्र से अश्वमेध यज्ञ के करने के फल की प्राप्ति हो सकती है।

सृष्टि के आरम्भ में स्रष्टा अकेला था और उसे साथी की आवश्यकता हुई। उसने अपनी इच्छा से पुरुष और स्त्री का सृजन किया। उसने स्त्री, पुरुष करके समस्त प्राणियों का सृजन किया। उसने देवताओं का भी सृजन किया। और इस प्रकार सृजन करके वह उनमें प्राणशक्ति के रूप में प्रविष्ट हो गया। सृष्टि रचना का वर्णन आध्यात्मिक और काव्यगत सौन्दर्य से परिपूर्ण है। उपनिषद् का सूत्रात्मक संदेश निम्नलिखित है– 'असतो मा सद गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योः मा अमृतं गमय' (1, 3, 28)। उपनिषद् के अनुसार इस मन्त्र की पुनरावृत्ति प्राण को जानने वाले के लिए की गई है। जो इस मन्त्र के अर्थ को समझता है तथा इसका उच्चारण करता है वह देवत्व को प्राप्त करता है। इस मन्त्र का शाब्दिक अर्थ है–

"असत् की ओर नहीं सत् की ओर ले चलो।

अन्धकार की ओर नहीं प्रकाश की ओर ले चलो।

मृत्यु की ओर नहीं अमरत्व की ओर ले चलो।"

प्रथम दो पंक्तियां का गम्भीर अर्थ है। यहाँ असत् का अर्थ अशुभ है। यदि हमारे विचार और क्रिया अशुभ हैं तो ये हमें नीचे की ओर ले चलेंगे। इसलिए हमें इस प्रकार की मृत्यु से दूर रखो। मुझे शुभ की ओर ले चलो। शुभ अमरत्व है। यदि कोई उचित मार्ग का अनुसरण करता है तो वह देवत्व को प्राप्त करता है। अन्धकार मृत्यु है, अज्ञान है, पर्दा है और इस प्रकार इसके पीछे भागने वाला मृत्यु की शरण में जाता है। इसके विपरीत प्रकाश दैवीय है तथा अमरत्व की प्राप्ति कराने में समर्थ है। प्रकाश का नाश नहीं होता है। प्रथम मन्त्र हमें अपने स्वरूप सत् के साथ जोड़ता है। जबकि द्वितीय मन्त्र अज्ञान का निराकरण करके हमें अपने स्वरूप की प्राप्ति कराना चाहता है। तृतीय मन्त्र 'मृत्योः मा अमृतं गमय', उपरोक्त दोनों मन्त्रों का समन्वयात्मक अर्थ देता है। यदि मन्त्र का पाठकर्ता यह जानता है कि प्राणशक्ति के साथ इस मन्त्र का तादात्म्य है तो वह अपने लिए वरदान प्राप्त कर सकता है।

13.4 दार्शनिक प्रतिउत्तर

उपनिषद् सार्वभौम ब्रह्म और वैयक्तिक आत्मा दोनों की चर्चा करता है तथा दोनों के एकत्व का प्रतिपादन करता है। ब्रह्म पर और अपर रूप में अनन्त अस्तित्व रखता है। ब्रह्म का वर्णन उपनिषदों में ऐकेश्वरवाद के ईश्वर की तरह नहीं है अपितु उसे सर्वव्यापक और सबके अन्दर बताया गया है।

उपनिषदों में प्रतीकात्मक रूप से यज्ञीय अश्व को विश्व के रूप में देखा गया है। यहाँ पर जिसका वर्णन किया गया है वह अश्वमेध यज्ञ का यज्ञीय अश्व है जिसकी बलि अश्वमेध यज्ञ में दी जाती थी। लेकिन उपनिषदों में इस पर केवल ध्यान के द्वारा फल की प्राप्ति बतायी गयी है। यहाँ यज्ञ क्रिया का स्थान ध्यान भावना ने ले लिया है।

शंकराचार्य और अन्य विद्वानों ने कहा है कि यह अश्व प्रजापति या सृष्टि का स्रष्टा है। यह केवल यज्ञीय पशु नहीं है। इसी रूप में इसको देखना चाहिए। अतः यहाँ पर सृष्टि प्रक्रिया कारण–मूलक अवस्था से सूक्ष्मावस्था में जाती है तथा सूक्ष्मावस्था से स्थूलावस्था में जाती है और स्थूलावस्था के रूप में यह जगत् के विभिन्न आकारों को जन्म देती है। इसलिए यज्ञीय अश्व के विभिन्न प्रकार्यों पर भी ध्यान करने को कहा गया है। और ये कार्य सामान्यतया अश्वमेध यज्ञ के समय सम्पादित किये जाते थे।

सृष्टि का वर्णन प्रतीकात्मक रूप में किया गया है। किस प्रकार वस्तुएं उत्पन्न हुईं तथा आँखों से हम क्या देखते हैं? कार्य और कारण सम्बन्ध क्या है? सार्वभौम सत्ता के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है? व्यक्ति और निरपेक्ष तत्व का क्या सम्बन्ध है? इन सभी का विस्तृत निरूपण किया गया है?

उपनिषद् में इस तथ्य का भी निरूपण है कि किस प्रकार प्राणशक्ति (आत्म) के ज्ञान से अज्ञान का निषेध हो सकता है। यह कहना बहुत कठिन है कि अज्ञान कैसे आता है। लेकिन ज्ञान तथा सत्य को जानने की तीव्र इच्छा से मुमुक्षु आत्म को जान सकता है। जब व्यक्ति आत्म की ब्रह्म के रूप में अनुभूति कर लेता है तो यह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है।

विद्वानों के अनुसार, शरीर, मन और प्राण का समन्वयात्मक कार्य यह संकेत करता है कि कोई अन्य अभौतिक सत् है जो इनसे भिन्न है। इसे ही हम व्यक्ति की आत्मा कहते हैं लेकिन इसका स्वरूप अनुभवातीत है। यह उन सीमित गुणों से मुक्त है जो अज्ञान के कारण हैं तथा यह परमसत् के साथ एकरूप हैं। केवल जड़ वस्तुएं, जिनमें गुण–दोष होते हैं, ही इन्द्रियों का विषय बनती हैं, आत्मा नहीं। अतः नाशवान वस्तुओं के गुण–धर्म–नाश, सम्बन्ध, बन्धन, दुख और मृत्यु आदि इसमें नहीं होते हैं।

यद्यपि, आदि शंकराचार्य प्रत्येक जाति के लिये निश्चित कर्मकाण्ड का निर्धारण करते हैं परन्तु ये मानते हैं कि ध्यान से ज्ञान उत्पन्न होता है। वास्तव में, उपनिषदों में बारम्बार ध्यान को कर्मकाण्ड के समतुल्य बताया गया है जिससे आत्मा का ज्ञान होता है और जो इस जगत् से इसे प्राप्त किये बिना चला जाता है वह अज्ञान में ही रह जाता है।

अन्तःप्रज्ञा के द्वारा ब्रह्मानुभव साधक के लिए एक बड़ी चुनौती होती है। ब्रह्म न तो सूक्ष्म है न स्थूल है, न छोटा है, न बड़ा है, न रूखा है, न चिकना है, न छाया है, न अन्धकार है, वह न आकाश है न वायु है, उसका कोई भी भौतिक आकार नहीं है। उसे नापा नहीं जा सकता है क्योंकि उसके अन्दर अथवा बाहर कुछ भी नहीं है लेकिन सभी वस्तुएं उसी के कारण हैं। वही द्रष्टा, सोचने वाला, श्रोता और ज्ञाता है। इसलिए याज्ञवल्क्य ने गार्गी से कहा, "इसी अक्षर में आकाश ओत–प्रोत है।" अतः ब्रह्म नित्य, अनन्त और ज्ञान स्वरूप है। यह सृष्टि का सार और निरपेक्ष तत्व है। इस ब्रह्म का आत्मा के साथ एकत्व का ज्ञान 'सत्य' की प्राप्ति कराता है। सत्य की अनुभूति की गति अति तीव्र है। सत्य का ज्ञान बिजली के चमकने जैसा है। 'नेति–नेति' से यह दिखाया जाता है कि जितना भी द्वैत (विषय–विषय) है यह पूर्ण है तथा मानव प्रत्यक्ष का विषय है लेकिन यह सब कुछ उस निरपेक्ष एकता से आता है, जिससे द्वैत का उद्गम होता है, यह स्वयं द्वैत से परे है।... बहुत सारे दर्शन अनुभवातीत ईश्वर के पर स्वरूप और सृष्टिकर्ता ईश्वर में भेद करते हैं। उपनिषद् के प्रसिद्ध उपवाक्य 'नेति–नेति' से ईश्वर के अनुभवातीत पररूप की झलक मिलती है'' (एस. राधाकृष्णन्, 1963)।

उपनिषद् साधक की पूर्णता की तथा शुद्धता की परीक्षा करता है। जिससे यह पता लगता है कि यह ब्रह्म की उपलब्धि के लिए समर्थ है कि नहीं। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रमुख साधन विद्या, ज्ञान, सत्य, आचार, विश्वास तथा विशाल हृदय होना है। यदि कोई संकल्प शक्ति संपन्न है तथा ईमानदारी से लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है तो यह उसे प्राप्त कर लेता है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. ध्यान और कर्मकाण्डीय आचरण में क्या भेद हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2. 'ऊँ' के महत्व पर एक संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

13.5 सारांश

उपनिषद् का प्रारम्भ अश्वमेध यज्ञ के वर्णन से होता है तथा अश्व की उपमा वैश्यिक सत्ता के रूप में दी गयी है। जिसके प्रत्येक अंग को वैश्यिक सत्ता से सम्बन्धित करके ध्यान करना चाहिए। अश्व से प्रारम्भ करके यह जगत् की सृष्टि प्रक्रिया का विवरण देती है। आरम्भ में कुछ भी नहीं था। शून्य से सृष्टि का प्रारम्भ हुआ। 'प्राण', आत्मा है तथा सबसे बलशाली है।

उपनिषद् ने कर्मकाण्ड के रूपक के माध्यम से सृष्टि की रचना को समझाया है। प्राण शक्ति को समझने के लिए अतिसुन्दर रूपक दिये गये हैं। सद्गुण की उत्पत्ति को बहुत मोहक एवं सुन्दरता के साथ समझाया गया है तथा सत्य और ब्रह्म की प्राप्ति में इसकी महिमा समझाई गई है। ऐसे बहुत सारे उपाख्यान हैं। जहाँ ब्रह्म की महिमा को समझाया गया है। 'द' ध्वनि और 'अन्' तथा मन्त्र 'असतो मा सद्गमय...' की महत्ता का भी सुन्दर ढंग से विवरण दिया गया है। उपनिषद् ने बहुत सुन्दर ढंग से यह समझाया है कि ध्यान

कर्मकाण्ड के समकक्ष है। अनेक प्रकार के ध्यानों की चर्चा की गयी है तथा ध्यानों के महत्व को बताया गया है। गायत्री छन्द की विस्तृत चर्चा की गयी है। मूलतः परब्रह्म और सत्य की तरफ साधकों को उन्मुख करने में यह उपनिषद् सफल रहा है।

13.6 कुंजी शब्द

अश्वमेघ यज्ञ : वैदिक धर्म मे राजाओं की दृष्टि से अश्वमेध यज्ञ का सबसे ज्यादा महत्व है। इसका विस्तृत वर्णन *(यजुर्वेद* 7.1–5 और 7.22–25 तथा *शतपथ ब्राह्मण* के सायण के भाष्य 13.1–5 में किया गया है।) *ऋग्वेद* के 1.162–63 सूक्तों में इसकी चर्चा की गयी है। लेकिन कर्मकाण्ड का विस्तृत वर्णन *यजुर्वेद* में ही मिलता है।

प्रजापति : हिन्दूधर्म में प्रजापति का अर्थ है जीवों का स्वामी जो जीवन की रक्षा करता है। *ऋग्वेद* के (10.121.10) सूक्तों से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक भाष्यकार इसे ईश्वर के रूप में देखते हैं, जैसा कि नासदीय सूक्त में कहा गया है।

हिरण्य गर्भ : हिरण्यगर्भ का शाब्दिक अर्थ स्वर्णगर्भ है तथा भारतीय दर्शन के अनुसार यह सृष्टि का स्रोत है। *ऋग्वेद* का 10.121 सूक्त हिरण्यगर्भ सूक्त कहलाता है जहाँ इसका वर्णन किया गया है तथा इससे एकत्ववाद अथवा एकेश्वरवाद की झलक मिलती है। नासदीय सूक्त में एक ही देवता को सबका कारण बताया गया है और उसे देवताओं का भी देवता कहा गया है और उसके सिवा किसी अन्य सत्ता का खण्डन किया गया है। उसका प्रजापति के साथ भी एकत्व का प्रतिपादन किया गया है। *उपनिषद्* इसे जगत् की आत्मा के रूप में स्वीकार करता है तथा यह कहता है कि यह अन्धेरे में तथा शून्यता में एक साल तक तैरता रहा तथा पुनः यह दो भागों, स्वर्ग और पृथ्वी, में विभक्त हो गया।

13.7 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

राज, ए. आर विक्टर. द *हिन्दू कनेक्शनः रूट्स ऑफ द न्यू एज.* सेन्टलुइस मिसोरीः कन्काड़िया पब्लिशिंग हाउस, 1995.

राधाकृष्णन्, एस. *प्रिन्सिपल उपनिषद्स,* न्यूयॉर्कः हार्पर कोलिन्स, 1963.

याकर, बेन्जामिन. *द हिन्दू वर्ल्ड.* न्यूयॉर्कः फ्रेडरिक फ्रेगर, 1978.

ह्यूम, आर. ई. (ट्रांस). *द थर्टिन प्रिन्सिपल उपनिषद्स.* लंदनः अधिक ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1931.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्य सहित. गोरखपुरः गीताप्रेस, विक्रम सन्वत् 2072.

13.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. उपनिषदों का मुख्य ध्येय कर्मकाण्डीय है जो ब्राह्मणों और वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य है। वैश्यिक अश्व पूर्णतः प्रतीकात्मक है तथा इसको समझना अत्यन्त कठिन है। इसके वर्णन में *उपनिषद्* ने मनोवैज्ञानिक तत्वों का संयोजन किया है जिसके माध्यम से अश्व के अंग की तुलना वैश्यिक अश्व से ही गयी है।

2. याज्ञवल्क्य के उत्तर से ब्रह्म का परोक्ष और साक्षात् ज्ञान मिलता है। ऐसे अनेक देवताओं का उल्लेख है जो इसके शासन में रहते हैं। याज्ञवल्क्य यह व्याख्या करते हैं कि विभिन्न देवता एक ही ईश्वर हिरण्यगर्भ के अंग हैं जो विश्वात्मक प्राण हैं। इसी के प्रसार से अनेक देवता बनते हैं तथा संकुचन से एकत्व की प्राप्ति होती है। देवताओं की संख्या की गणना करते हुए याज्ञवलक्य ने आठ वसु– अग्नि, पृथ्वी, वायु, आकाश, सूर्य, द्यूलोक, चन्द्र और तारा की गणना की। मनुष्य के दस अंग तथा मन को लेकर एकादश रूद्र होते हैं। आदित्य बारह महिने हैं। विद्युत का गरजना इन्द्र है और यज्ञ की प्रजापति हैं। छः देवता क्रमशः अग्नि, पृथ्वी, वायु, आकाश, सूर्य और द्यूलोक हैं। तीन देवता तीन जगत् हैं दो देवता जड़ और प्राण है तथा डेढ़ देवता बहती हुई हवा है।

बोध प्रश्न 2

1. ज्ञान की प्राप्ति के लिए ध्यान सबसे सुन्दर मार्ग है। इसका कर्मकाण्ड की तरह महत्व है। लेकिन दोनों में भेद निम्नांकित है; यज्ञीय कर्म के सम्पादन के लिए शुभ स्थान, काल, उद्गाता, यज्ञीय सामग्री को एकत्रित करना पड़ता है जबकि ध्यान में इनकी कोई आवश्यकता नहीं होती है। इसमें अपनी सुविधानुसार ब्रह्म का ध्यान किया जाता है। यद्यपि स्व पर नियंत्रण आवश्यक है। प्रत्येक दिन साधक को निश्चित काल और निश्चित संकल्प के साथ ध्यान करना चाहिए। दोनों का फल एक ही ब्रह्म की प्राप्ति है।

2. ध्यान के लिए एक शब्द की आवश्यकता होती है। 'ॐ' यह शक्तिशाली शब्द है जिस पर ध्यान करने से ब्रह्मानुभव हो सकता है। यद्यपि ब्रह्म और आत्मा एक ही तत्व के सम्बोधक हैं फिर भी 'ॐ' को सबसे सुयोग्य नाम माना गया है। यह ब्रह्म को प्राप्त करने का सबसे सुन्दर साधन है। यह प्रतीक भी है, नाम भी है।